

स म प र

कविज आचार्य मुनि रामेश्वर, कन्नड,
के

प्रमुख कवि संरक्षक,

अख्य गणी श्री उदयपण्डरी महाराज
के

पाठ्य कर बमको में

समन्ति भाव

समन्ति

—मुनि 'दमर'

स्नेहःस्मृतिः

आचार्य मोतिरामस्य

श्रीमतः स्वयं-वासिनः ।

स्मृतौ तत्स्नेह-पानेन

कृतिरेषा प्रकाशिता ॥

प्रकाशकीय निवेदन

हमारे लिए यह अत्यंत हर्षका विषय है कि आज हम इस रूपमें स-भाष्य सामायिक सूत्र ध्याप के संमुख रख रहे हैं। सामायिक सूत्र पर अपने ढंग का यह प्रथम ग्रंथ रत्न है। संमान्य उपाध्याय मुनि श्री धर्मरघुंद्र जी 'कवि रत्न' की दीर्घ कालीन साधना के फल स्वरूप ही यह भाष्य प्रस्तुत हो सका है; इस भाष्य की उपयोगिता, उपाध्याय-श्री जी की गंभीर अन्वेषण-शक्ति का योग पाकर कितनी बढ़ गई है, यह बतलाना मेरे लिए शक्य नहीं। पंडित बेचरदास जी दोरी जैसे अध्ययनशील विद्वान ने भाष्य की महत्ता मुक्त कंठ से स्वीकार की है। हम तो इतना ही मानते हैं इस तरह के ग्रंथ सदा ही सामने नहीं आते।

सामायिक सूत्र—हमारी चिर अभिलाषा की पूर्ति करने वाला प्रकाशन है।

हमारी हार्दिक इच्छा थी, इस ग्रंथ रत्न को हम उसी तरह सजा-संगार कर प्रकाशित करें, जैसा एक सारगर्भित ग्रंथ रत्न के लिए आवश्यक है, मगर साधनहीन, सुविधाविहीन परिस्थिति में हमसे कुछ अधिक करना-कराना अशक्य रहा। और जैसा भी, जो कुछ भी हो सका, ध्याप के हाथों में है। सुधी पाठक, सादगी में भी आत्मानंद की प्राप्ति करेंगे। वस,

यह भी निवेदन कर दें तो कोई अनुचित कार्य नहीं होगा कि स्वरा-प्रकाशन को लेकर जो श्रुतिपूर्ण होनी चाहिए—यह द्रष्टुं संशोधन

की वृष्टि, इस में मिलेंगी । हम अपनी असमर्पता के लिए कष्ट प्रार्थी हैं ।

शेष में—हम बिना किसी उपचार के, राजहंस प्रेस दिल्ली एवं श्री कुमुद विद्यालंकार का आभार मानते हैं, जिन्होंने हमारे लिए प्रेस आदि वै कार्यों में सहयोग प्रदान किया है ।

सन्मति ज्ञान-पीठ,	}	विनीत—
खोदामंडी, आगरा		
		रतन लाल जैन मोतल

श्रपनी बात

प्रस्तुत सामायिक सूत्र के लिखने और जनता के समक्ष आने की कहानी यही लंबी है। यदि विस्तार में न जाकर संक्षेप में कहें तो यह है कि इसका कुछ अंश महेन्द्रगढ़ में लिखा तो कुछ फरीदकोट में, और पूर्णाहुति तुरंत कमरा: आगरा एवं दिल्ली के चातुर्मास में।

आर जानते हैं जैन-साधु का जीवन शुद्ध परिभाषक का जीवन है। परिभाषक ठहरा धुमककह, अतः यह एक जगह जमकर कोई भी लंबी प्रवृत्ति नहीं कर सकता। दूसरी बात यह है कि हर जगह यथा-मिलपित साहित्य-सामग्री भी तो उपलब्ध नहीं होती।

हाँ, तो सामायिक का लेखक पंजाब, राजपूताना एवं दिल्ली का घूमकर काटता रहा, और जहाँ भी गया, सुनाने में आया, फलतः साहित्य प्रेमी विद्वानों की ओर से उचित आदर-मान पाता रहा। अपने अभिन्न स्नेही व्याख्यान पाचस्पति पं० श्री नन्दन मुनि जी तो प्रस्तुत पुस्तक के प्रारंभ से ही प्रसन्न रहें हैं। आप की मधुर प्रेरणाएँ पुस्तक के साथ बड़ी हुई हैं। अन्य मुनि राजों और गृहस्थों का उत्साहप्रद आग्रह भी स्मृति-योग्य है।

अक्षय गुरुदेव पूज्यपाद जैनाचार्य श्री दृष्टोपेन्द्रजी महाराज, और उदार हृदय, स्नेह-मूर्ति अक्षय गली श्री रघुनाथ खालजी महाराज का स्नेह मधुर आशीर्वाद भी पुस्तक के साथ सम्बद्ध है। आपकी प्रेरणा के बिना यह मेरा साहित्य-मेष का मुख्य अंगुर कभी भी इस प्रकार परावित नहीं हो सकता था। मेरे सखु गुरुभाऊ श्री चमोकर-

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
प्रारम्भ	१-११
नवन	१३-१३०
१. विषय क्या है ?	१२
२. चैतन्य	१८
३. मनुष्य और मनुष्यत्व	२१
४. मनुष्यत्व का विकास	३३
५. सामाजिक का अर्थ	४१
६. सामाजिक का अर्थ	४३
७. सामाजिक का अर्थ	४४
८. द्रव्य और भाव	४७
९. सामाजिक का अर्थ	५१
१०. सामाजिक के दोष	६२
११. अन्तरहवास	६७
१२. सामाजिक के अधिकारी	७२
१३. सामाजिक का महत्व	७५
१४. सामाजिक का मूल	८०
१५. अर्थ और सौंदर्य-प्राप्त का अर्थ	८२
१६. शुभ-भावना	८६
१७. अर्थ ही सामाजिक है	९१
१८. सत्य और भावक का सामाजिक	९५
१९. पं. अन्तरहवास	९८
२०. सामाजिक कह करनी चाहिए ?	९९

विषय	पृष्ठ
२१. आसन कैसा ?	१०२
२२. पूर्व और उत्तर ही क्यों ?	१०४
२३. प्राकृत-भाषा में ही क्यों ?	१०८
२४. दो वर्षी ही क्यों ?	११२
२५. वैदिक-सन्ध्या और सामायिक	११५
२६. प्रतिज्ञा-पाठ कितनी बार ?	१२१
२७. श्लोकस्स का ध्यान	१२३
२८. उपसंहार	१२६
सामायिक सूत्र	१३१-१८८
१. नमस्कार सूत्र	१३३
२. सम्यक्त्व-सूत्र	१४१
३. गुरु-गुण-स्मरण-सूत्र	१६०
४. गुरु-वन्दन-सूत्र	१७१
५. आलोचना-सूत्र	१८५
६. उत्तरीकरण-सूत्र	१९७
• आगार-सूत्र	२०१
• अनुविशलि-स्तव-सूत्र	२११
१. प्रतिज्ञा-सूत्र	२३०
१०. प्रणिपाल सूत्र	२४८
११. समाप्ति सूत्र	२८३
परिशिष्ट	२८६-३२५
१. विधि	२८१
२. संस्कृत-शब्दानुवाद	२८४
३. सामायिक सूत्र हिन्दी शब्दानुवाद	३०२
४. सामायिक पाठ	३१५
५. प्रवचनदि में प्रयुक्त अन्य सूची	३२३

अन्तर्दर्शन

अन्तर्दर्शन

(पं० वैचरदास जी दोशी, अहमदाबाद)

कविरत्न श्री अमरचंद्रजी उपाध्याय का सम्पादित सामायिक सूत्र मैं मन्मूर्ख पर गया हूँ। इतने मूल पाठ तथा उसका संस्कृतानुवाद—संस्कृत शब्दरूपाया दोनों ही हैं। मूलपाठ के प्रत्येक शब्द का हिन्दी में अर्थ तो है ही, साथ ही प्रत्येक सूत्र के अंत में उसका अखंड संस्कृत भाषा में भी दिया है। और भी, कविरत्न जी ने हिन्दी-विवेचन के रूप में सम्पूर्ण पुण्यपयोगी जीवन सारी शास्त्रीय चर्चाओं एवं विवेचनाओं से इसे अभ्यन्तरीय हृदयों के लिए अत्यंत ही उपयोगी रूप दिया है। सम्पादन के सीमित क्षेत्र के बीच रहते हुए भी कविरत्न जी की विवेचनाएं प्रायः साम्प्रदायिक भावना से शून्य हैं, व्यापक हैं। तुलनात्मक पद्धति का अनुसरण कर उन्होंने इस और एक नया प्रकार दिया है। इस प्रकार तुलनात्मक पद्धति तथा व्यापक भाव की दृष्टि का अनुसरण देख कर मुझे सविशेष प्रमोद होता है।

कविरत्न जी का जैत उगत में साधुत्व के नाते एक विरोध स्थान है, फिर भी उन्होंने विनयशील स्वभाव, विद्वानुरागतन की प्रवृत्ति, विवेक-दृष्टि और असाधारण विचारों के सहारे अपने आप को और भी ऊपर उठाया है। मेरा और उनका अन्वय-अभ्यन्तरीय का घनिष्ठ संबंध रहा है, अतः विद्वानों में स्वयं उन्हें नवदीप से समान पाया हूँ, उतना ही यदि उनके अनुयायी भी अपने गुरु कविरत्न जी को समझने की चेष्टा करें तो निश्चय ही वे अपना और अपनी सम्पादन का अर्थ साधन करने में एक सफल पाठें अदा करेंगे।

प्रस्तुत पुस्तक में श्वेतांबर मूर्तिपूजक परंपरा की सामायिक विधि तथा दिगंबर जैन परंपरा की सामायिक विधि भी यदि जोड़ दी जाय तो वह और भी उपादेय हो जाय ।

मूल सूत्र तो तीनों ही परंपरा के लगभग एक से हैं । दिगंबर-परंपरा में मूल पाठ अपने मागधी में है तथा संस्कृत में भी, अतः उन दोनों पाठों को जोड़ना उचित होगा । कविरत्न जी से मेरा आग्रह है कि वह तीनों जैन संप्रदाय की सामायिक विधि या ग्रन्थ पाठ-भेद आदि विशेषताओं को पुस्तक के परिशिष्ट भाग में देने का कष्ट करें । इस तरह समस्त जैनों के लिए पुस्तक उपादेय तो होगी ही, साथ ही हमारी सांप्रदायिक कट्टरता को मिटाने में भी-समर्थ होगी । पारस्परिक समभाव की वृद्धि से ही हम सच्ची सहिता के आराधक बन सकते हैं ।

प्रत्येक प्राणी में स्वरचण वृत्ति का भाव जन्म से होता है, इस स्वरचण वृत्ति को सर्वरचण वृत्ति में बदल देना सामायिक का प्रधान उद्देश्य है । मानव की दृष्टि सर्व प्रथम अपने ही देह, इंद्रियां, और भोग-विलास तक पहुंचती है, फलतः उसकी रचा के लिए वह सारे कार्य-कार्य करने को तैयार रहता है । जब वह आगे बढ़कर पारिवारिक चेतना प्राप्त करता है, तब उसकी वह रचण वृत्ति विकसित होकर परिवार की सीमा में पहुंचती है । परन्तु सामायिक हमें बताता है कि स्वरचण वृत्ति के विकास का महत्व केवल अपने देह और परिवार तक ही नहीं, विरहम्यापी बनाने में है । वह भी शांति परिषद् (पीस कॉन्फेंस) की तरह केवल विचार मात्र में नहीं, अपितु व्यवहार में प्राणि-मात्र की रचा-वृत्ति में है । विरह-रचण का भाव रखने वाला और इसी के अनु-सार कार्य करने वाला मानव सच्चा सामायिक करता है । फिर भले ही वह भायक हो या और कोई गृहस्थ हो, किंवा संन्यस्त साधु हो, किसी भी संप्रदाय-मत का अथवा देश का क्यों न हो और किसी भी विधि-परंपरा से संबंध रखने वाला क्यों न हो, विभिन्न जातियों, विभिन्न भाषाएँ और विभिन्न विधियों सामायिक में अन्तर नहीं बाल सकती,

न्यायचट गद्दी हाल सबकी । जहाँ समभाव है, विश्वरक्षण वृत्ति है, और उसका आचरण है, वही सामायिक है । बाह्य भेद मौल्य है, मुख्य गद्दी ।

प्राणि मात्र को आत्मवत् समझने हुए सब व्यवहार चलाने का ही नाम सामायिक है—सम + आय + इक=सामायिक । सम=समभाव, सर्वत्र आत्मवत् प्रवृत्ति, आय=लाभ, जिस प्रवृत्ति से समता बनी, सम-भाव की अभिवृद्धि हो, वही सामायिक है ।

जैन शास्त्र में सामायिक के दो भेद बताए गए हैं—एक द्रव्य-सामायिक, दूसरा भाव सामायिक । सम भाव की प्राप्ति, सम भाव का अनुभव और फिर सम भाव का प्रत्यक्ष आचरण—भाव सामायिक है । ऐसे भाव सामायिक की प्राप्ति के लिए जो बाह्य-साधन और अंतरंग-साधन जुटाए जाते हैं, उसे द्रव्य-सामायिक कहते हैं । जो द्रव्य-सामायिक हमें भाव सामायिक के समीप न पहुंचा सके, वह द्रव्य-सामायिक नहीं, किन्तु अन्ध-सामायिक है, मिथ्या सामायिक है, यदि और उग्र भाषा में कहें तो दल सामायिक है ।

हम अपने निरय प्रति के जीवन में भाव सामायिक का प्रयोग करें, यही द्रव्य सामायिक का प्रधान उद्देश्य है । हम घर में हों, दुकान में हों, फाँट-कचहरी में हों, किसी भी व्यापहारिक कार्य में और कहीं भी क्यों न हों, सर्वत्र और सभी समय सामायिक की मौलिक भावना के अनुसार हमारा सब लौकिक व्यवहार चल सकता है । उपाधय या स्थानक में, "सावज्जं जोगं पच्चसस्वामि"—'पाप-युक्त प्रवृत्तियों का त्याग करता हूँ'—की ली गई प्रतिज्ञा की सार्थकता यस्तुतः आर्थिक, राजनीतिक और घरेलू व्यवहारों में ही सामने आ सकती है । उद्द निश्चय के साथ जीवनमें सर्वत्र सामायिक प्रयोग की भावना छपनाने के लिए ही तो हम प्रतिदिन उपाधयादिक पवित्र स्थानों में देव-गुरु के समक्ष, 'सावज्जं जोगं पच्चसस्वामि' की उदघोषणा करते हैं, सामायिक का पुनः-पुनः अभ्यास करते हैं । जब हम अभ्यास करते-करते जीवन के सब व्यवहारों में सामायिक का प्रयोग करना सार लें और इस क्रिया में भली भाँति

प्रादिनाय में समनाय की प्रवृत्ति, मानव-सनाय में सुख-शान्ति का विस्तार, भ्रंशति का मार और कलह-भ्रंश का त्याग है। यही सामाजिक का लक्ष्य और यही सामाजिक का उद्देश्य है।

सामाजिक समनाय की कल्पना रखता है। यह मुख पटिका, रडो-हार और बैठका-क्यामन आदि को तथा मन्दिर आदि की कल्पना नहीं रखता। उक्त सब चीजों को समनाय के अन्वय का साधन कहा जा सकता है; परन्तु यदि ये चीजें समनाय के अन्वय में हमें उपयोगी नहीं हो सकीं तो प्रतिग्रह नाय है, आश्रमनाय है। सामाजिक करते हुए हमें लोभ, क्रोध, मोह, अज्ञान, दुराग्रह, अन्धमर्दा तथा सांन्यास-न्याय द्रोह को त्याग करने का अन्वय करना चाहिए। अन्य सम्प्रदायों के साथ समनाय से बतौर करना, तथा उनके विचारों को सरल नाय से समझना, सामाजिक के साधक का अतीव आवश्यक कर्तव्य है। उक्त सब बातों पर कविर्षी जी ने अपने विवेचन में विस्तार के साथ बहुत अच्छे ढंग से प्रकट डाला है।

कभी-कभी हम-धार्मिक विद्या-कलाओं और विधि-विधानों को प्रवृत्ति का निमित्त भी बना लेते हैं, धर्म के नाम पर सुस्तन-सुस्ता अधर्म का आचार करने लगते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि हम उन विधानों का हृदय एवं भाव ठीक तरह समझ नहीं पाते। आज के धर्म और सम्प्रदायों के अधिकतर अनुयायियों का प्रत्यक्ष सावरण तथा धर्म-विधान इनकी तरफ दे रहा है।

दूसरी गूढ़ की मनोवृत्ति है—धार्मिक गूढ़ की मनोवृत्ति को ही हम लेते हैं। हमने पूर्वजों ने, पुत्रों ने समस्त-समस्त पर युगायुक्त उचित परिष्कार और शक्ति का भावना में प्रेरित होकर प्राचीन ज्ञान-संसार के धार्मिक विद्या-कलाओं में थोड़ा सा नया हेर-फेर क्या किया—हमने उसे गूढ़ का प्रचार ही मान लिया—भेदभाव का आदर्श सिद्धांत ही समझ लिया। जैन समाज का खेतावर और दिगंबर सम्प्रदाय, तथा खेतावर सम्प्रदाय ने भी, मूर्तिपूजक स्थानक बस्तो आदि के भेद और दिगंबर

प्र व ष न

: १ :

विश्व क्या है ?

प्रिय सज्जनों ! यह जो कुछ भी विश्व-ग्रंथ प्रायः द्रष्टा परोक्ष-रूप में आपके सामने है, वह क्या है ?—कभी एकान्त में बैठकर इस सन्दर्भ में कुछ सोचा-विचारा भी है या नहीं ? उत्तर स्पष्ट है—‘नहीं ।’ आज का मनुष्य किटना भूला-हुआ प्राणी है कि वह जिस संसार में रहता-सहता है, कनादिकाल से जहां-जन्म-मरण की अनन्त कड़ियों का जोड़-जोड़ लगावा छापा है, उसी के सन्दर्भ में नहीं जानता कि वह वस्तुतः क्या है ?

आज के नांग-विलामी मनुष्यों का इस प्रश्न की ओर, भले ही लक्ष्य न गया हो; परन्तु हमारे प्राचीन तत्त्वज्ञानी महापुरुषों ने, इस सन्दर्भ में बड़ी ही महत्त्वपूर्ण गवेषणाएँ की हैं । भारत के बड़े-बड़े दार्शनिकों ने संसार की इस रहस्यपूर्ण गुणों की सुलझाने के अविस्तृत प्रयत्न किए हैं और वे अपने प्रयत्नों में बहुत कुछ सफल भी हुए हैं ।

परन्तु आज तक की जितनी भी संसार के सन्दर्भ में, दार्शनिक-विचार धाराएँ उपलब्ध हुई हैं, उनमें यदि कोई सबसे अधिक स्पष्ट, सुसंगत एवं अनामिल साध विचारधारा है तो वह वैश्व-ज्ञान एवं वैश्व-दर्शन के धर्म सर्वज्ञ सर्वदर्शी जैन तीर्थंकरों की है । भगवान् ऋषभदेव आदि सभी तीर्थंकरों का कहना है कि ‘यह विश्व वैश्व सार और वह रूप में उभराना है, अनादि है, अनन्त है । न कभी बना है और न कभी नष्ट होगा । पदार्थ की दृष्टि में अकार-अकार का, स्वरूप का

परिवर्तन होता रहता है, परन्तु मूल-स्थिति का कभी भी सर्वथा नाश नहीं होता । मूल-स्थिति का अर्थ द्रव्यरश्मि है ।”

चैतन्याद्वैतवादी वेदान्त के कथनानुसार—‘विरव केवल चैतन्यमय ही है’ यह जैन धर्म को स्वीकार नहीं । यदि जगत् की उत्पत्तिमें पड़िजे केवल एक पर-ब्रह्म=चैतन्य ही था, जड़ यानी प्रकृति नामक कोई दूसरी वस्तु भी ही नहीं, तो फिर यह नाना प्रपञ्चरूप जगत् कहां से उठ सका हुआ ? शुद्ध ब्रह्म में तो किन्हीं भी प्रकारका विकार नहीं आना चाहिए । यदि माया के कारण विकार आगया है तो वह माया क्या है ? सत् या असत् ? यदि सत् है=अस्तित्वरूप है, तो अद्वैतवाद=एकत्ववाद कहां रहा ? ब्रह्म और माया द्वैत न होगया ? यदि असत् है=नास्तित्वरूप है, तो वह शून्य-शून्य अथवा आकाश पुष्प के समान अभाव स्वरूप ही होनी चाहिए, फलतः वह शुद्ध पर-ब्रह्म को विकृत कैसे कर सकती है ? जो वस्तु ही नहीं, अस्तित्वरूप ही नहीं, वह क्रियाशील कैसे ? कर्ता तो बड़ी बनेगा, जो भावस्वरूप होगा, क्रियाशील होगा । यह एक ऐसी प्रश्नावली है, जिसका वेदान्त के पाम कोई उत्तर नहीं ।

अब रहा जड़द्वैतवादी आर्वाक यानी नास्तिक, जो यह कहता है कि—‘संसार केवल प्रकृति स्वरूप ही है, जड़रूप ही है, उसमें आत्मा अर्थात् चैतन्य जैसा कोई दूसरा पदार्थ किसी भी रूप में नहीं है ।’ जैन धर्म का इसके प्रति भी आक्षेप है कि यदि केवल प्रकृति ही है, आत्मा है ही नहीं, तो फिर कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई क्रोधी, कोई चमा-याजी, कोई त्यागी, कोई भोगी, यह विचित्रता क्यों ? जड़ प्रकृति को तो सदा एक जैसा रहना चाहिए । दूसरे प्रकृति तो जड़ है, उसमें भस्मे-हरे का ज्ञान कहां ? कभी किसी जड़-ईंट या पत्थर आदि को तो वे संकल्प नहीं हुए ? एक नन्हे से कीड़े में भी सकल्प शक्ति है । वह जरा से खेदने पर म्दपट निकुञ्जता है, और आत्मरक्षा के लिए प्रयत्न करता है, पान्तु ईंट या पत्थर को कितना ही कूटिए, उनकी ओर से किसी भी

तबही चेतना का प्रदर्शन नहीं होगा । चाहेकि तबत प्रश्नों के समस्त मौन हैं ।

कृतार्थ स्वरूप में यह निरूप्य होजाता है कि—यह अनादि संसार, चैतन्य और जड़=उभयरूप है, एकरूप नहीं । जैन तीर्थंकरों का बचन हय शम्भुध में पूर्णतया सौ दृष्टी होने के बराबर निर्मल और स्वयं है ।

कर्ता नहीं है। करने वाली प्रकृति है। प्रकृति के दृश्य, आत्मा देखता है
अतः यह केवल द्रष्टा है। सांख्य सिद्धान्त का मूल है—

प्रकृतेः क्षिप्ताणामि गुणैः कर्माणि सर्वशः।

अद्वैतार सिद्धात्मा कर्तामिति मन्यते ॥—गीता ३। २७

वेदान्त भी आत्मा को कृतव्य नित्य मानता है; परन्तु उसके मत
में ब्रह्मरूप आत्मा एक ही है, सांख्य के समान अनेक नहीं। ब्रह्मण में
जो मानाव्य दिखलाई देता है, वह मायाजन्य है, आत्मा का करना
नहीं। पर-ब्रह्म में ज्यों ही माया का स्पर्श हुआ, यह एक से अनेक हो
होगया, संसार बनगया। पहले, ऐसा कुछ नहीं था। वेदान्त जहाँ आत्मा
को एक मानता है, वहाँ सर्वव्यापी भी मानता है। अग्निल मझारुड में
एक ही आत्मा का पमारा है, आत्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।
वेदान्त-दर्शन का आदर्श मूल है कि—

‘सर्वं व्याप्यं ब्रह्म मेऽ नानास्मि विचिन ।’

पैरोपिक आत्मा को अनेक मानने हैं, पर मानने हैं,—सर्वव्यापी।
उनका करना है कि—आत्मा एकान्त निष्प है, वह किसी भी परिवर्तन
के शर में नहीं आता। जो सुख-दुःख आदि के रूप में परिवर्तन नजर
आता है, वह आत्मा के गुणों में है, स्वयं आत्मा में नहीं। ज्ञान आदि
आत्मा के गुण अवस्था हैं, पर वे आत्मा को तंग बनने वाले हैं, संसार
में संमाने वाले हैं। जब तक वे नष्ट नहीं होजाते आत्मा की मोर नहीं
हो सकती। हमका यह अर्थ हुआ कि स्वरूपन आत्मा ‘अद्वैत’ है।
आत्मा से भिन्न पदार्थ के रूप में माने जानेवाले ज्ञान-गुण के सन्दर्भ में
आत्मा में घेयता है, स्वयं नहीं।

बौद्ध आत्मा को अज्ञान एतिक मानने हैं। उनका अभिप्राय यह
है कि अनेक आत्मा एक-एक में नष्ट होजा जाता है और उसमें नष्ट-
वर्तीन आत्मा उदरु होजा जाता है। यह आत्म-घो के अज्ञान-मल-
प्रपाद अनादि बाध से बना जागता है। जब कि अज्ञान-मल-
के द्वारा आत्मा को समूह नष्ट कर दिया जाए सर्वज्ञ आत्मा नष्ट

बरीरके समान, निर्बोध हूँ और नाँवकी भी दुःखमें बदलते और सुख से हफाते देखा है ? कदा सिद्ध है कि आत्मा परिवर्तनशील निश्च है । सांख्य के अनुसार ब्रह्म निश्च नहीं । परिवर्तनी निश्चमे यह अभिप्राय है कि आत्मा कर्मानुसार नरक, तिर्थ आदि में, सुख-दुःख रूप में बदलता भी रहता है और फिर भी आत्मच रूप में स्थिर निश्च रहता है । आत्मा का कभी मरना नहीं होता । सुख, संकष्ट आदि गइनों के रूप में बदलता रहता है, और सुख रूप में ध्रुव रहता है । इसी प्रकार आत्मा भी ।

वेदान्त के अनुसार आत्मा एक और सर्वगामी भी नहीं । यदि ऐसा होता, तो विन्दान, रूपदान, रानदान आदि सब व्यक्तियों को एक समान ही सुख-दुःख होना चाहिए या । क्योंकि जब आत्मा एक ही है और वह सर्वगामी भी है फिर प्रत्येक व्यक्ति अलग-अलग सुख-दुःख का अनुभव क्यों करे ? कोई धनान्ता और कोई पापी क्यों ? दूसरा दौर यह है कि सर्वगामी जानने में परलोक भी घटित नहीं हो सकता । क्योंकि जब आत्मा आकाश के समान सर्वगामी है, अतः वही आता जाता ही नहीं, तब फिर नरक, स्वर्ग आदि विभिन्न स्थानों में जाकर पुनर्जन्म कैसे लेगा ? सर्वगामी को कर्म-बंधन भी नहीं हो सकता । क्या कभी सर्वगामी आकाश भी किसी बंधन में आता है ? और जब बंधन ही नहीं तो फिर मोह क्यों ?

आत्मा का ज्ञान पुरा स्यान्वितिक नहीं है वैरोधिक दर्शन का उक्त कथन भी अज्ञान नहीं प्रकृति और चैतन्य दोनों में विभेद की रेखा खींचनेवाला ज्ञान का यदि कोई लक्षण है तो वह एक ज्ञान ही है । ज्ञान का कितना हो सके न एवम हो जाय वह वनस्पति आदि स्थावर जीवों की अतीव पालर स्थिति तक क्यों न पहुँच जाय, फिर भी उनके ज्ञानस्वरूप वेदान्त दर्शनका मन्त्र नहीं हो पाती । अज्ञान का एवम कितना हो अनिमित्त क्यों न हो, ज्ञान का दौरा प्रकृत, फिर भी अन्तर में बसकता ही रहता है । मयि बदलते के ज्ञान एक जाने पर

हृत् कर्म निकल गया और उधर चोरी न करने वाले दूसरे आत्मा को बिना कर्म के व्यर्थ ही दण्ड भोगना पड़ा।

आत्मा कभी सर्वज्ञ नहीं हो सकता, मोक्ष नहीं पा सकता—यह आर्यमनास का कथन भी उचित नहीं। हमें अल्पज्ञ ही रहना है, संसार में ही भटकना है, फिर भला यज्ञ, नियम एवं तपस्सचर्य आदि की स्थापना का क्या धर्म ? धर्मस्थापना आत्मा के सद्गुणों का विकास करने के लिए ही तो है। और जब गुणों के विकसित होते-होते आत्मा पूर्ण विकास के पद पर पहुँच जाता है तो वह सर्वज्ञ हो जाता है, अन्त में सब कर्म बन्धनों को बाँटकर मोक्ष पद प्राप्त कर लेता है—सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो जाता है। मोक्ष प्राप्त करने के बाद, फिर कभी भी संसार में भटकना नहीं पड़ता। जिस प्रकार जला हुआ बीज फिर कभी उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार तपस्सचर्य आदि की आध्यात्मिक धर्मि में जला हुआ कर्म बीज भी फिर कभी जन्म-मरण का विष-अंकुर उत्पन्न नहीं कर सकता। जिस प्रकार दूध में से निकाल कर अलग किया हुआ मक्खन, पुनः अपने स्वरूप को ठोकर दूध रूप हो जाय, वह असंभव है, ठीक उसी प्रकार कर्म से अलग होकर सर्वथा शुद्ध हुआ आत्मा, पुनः बंध नहीं हो सकता। कर्मजन्य सुख-दुःख नहीं भोग सकता। बिना कारण के कभी भी कार्य नहीं होता, वह व्यापक कारण का प्रभु निश्चय है। जब मोक्ष में सन्तारके कारण कर्म ही नहीं रहे तो उसका कार्य सन्तार में पुनरागमन कैसे हो सकता है ?

आत्मा पाप भूतो का बना हुआ है और एक दिन वह भय हो जायगा, वह होय सन्तार आदि नास्तिकों का कथन भी सर्वथा अभास्य है। भौतिक पदार्थों में आत्मा की विभिन्नता स्वयं सिद्ध है। किसी भी भौतिक पदार्थ में चेतना का अस्तित्व नहीं पाया जाता। और उधर अनेक आत्मा में योंही या बहुत चेतना अंतर होती है। अतः सत्त्व-भेद में पदार्थ-भेद का निश्चय सर्वमान्य होने के कारण यह प्रकृति से चैतन्य आत्मा का दृश्यता सुनिश्चित है। पृथ्वी, जल, तेज,...

वायु, आकाश, जल, अग्नि, पृथ्वी, इत्यादि सब चीजें
उत्पन्न हो गईं। ये सब चीजें, जो अब हम देख सकते हैं,
सकती हैं, वे सब चीजें, जो अब हम देख सकते हैं,
और उत्पन्न हो गईं। ये सब चीजें, जो अब हम देख सकते हैं,
सदा से हैं और सदा रहेगा। जब एक शरीर पीया हो जाता है और
उत्पन्न होता है, तब आत्मा नवीन कर्मानुसार
दूसरा शरीर धारण कर लेता है। शरीर-परिवर्तन का यह अर्थ नहीं
कि शरीर के साथ आत्मा भी नष्ट हो जाता है। अमूर्त आत्मा के
समान अमूर्त आत्मा भी न कभी बनता है, न बिगड़ता है। यह
अनादि है, और अमर है; फलतः असंख्य है, अपेक्ष्य है, अजेय है।

आत्मा अरूपी है, उसका कोई रूप रंग नहीं। आत्मा में स्पर्श,
रस, गन्ध आदि किसी तरह भी नहीं हो सकते; क्योंकि ये सब जब
पुद्गल-सहति के घर्मे हैं, आत्मा के नहीं।

आत्मा इन्द्रिय और मन से आगेवर है—‘अथ सन्निवृत्ति
न कदा नश्य न विमर्शः’—(आचार्य प्रियमश्रुत स्कन्ध) अस्तु, आत्मा
के वास्तविक स्वरूप को जानने की शक्ति एकमात्र आत्मा में ही है, अन्य
किसी भौतिकसाधनमें नहीं। जिस प्रकार स्व-भर प्रकाशक दीपकको देखने
के लिये हमारे किसी साधन की आवश्यकता नहीं होती, परन्तु अपने
उत्पन्नप्रकाशमें ही वह स्वयं प्रतिमामित हो जाता है, ठीक इसी प्रकार
स्व-भर प्रकाशक आत्मा को देखनेके लिये भी किसी दूसरे भौतिक प्रकाश
की आवश्यकता नहीं। अन्तर में रहा हुआ ज्ञान प्रकाश ही, जिसमें
से वह प्रस्तुति हो रहा है, उस अमर तत्त्वोपाम आत्मा को भी देख
लेता है। आत्मा की स्थिति के लिये स्वानुभूति ही सबसे बड़ा प्रमाण
है। अतएव आत्मा के सम्बन्ध में कहा जाता है कि ‘मै’ क्यों हूँ, ‘तू’
‘मे’ हूँ।

आत्मा सर्वव्यापी नहीं, बल्कि शरीर प्रमाण होता है। छोटे शरीर
में छोटा और बड़े में बड़ा हो जाता है। छोटी वस्तु के वास्तव में आत्मा

घोच होता है, और उत्तरोपर ज्यों-ज्यों शरीर बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों आत्मा का भी विस्तार होता जाता है। आत्मा में संकोच विस्तार का गुण प्रकाश के समान है। एक विशाल कमरे में रखे हुए दीपक का प्रकाश बड़ा होता है, परन्तु यदि आप उसे उठाकर एक छोटे से बड़े में रख दें तो उसका प्रकाश उतने में ही सीमित हो जाएगा। यह सिद्धांत अनुभव मिट भी है कि शरीर में जहां कहीं भी छोटा छगगी है, सर्वत्र दुःख का अनुभव होता है। शरीर में बाहर किसी भी चीज को छोड़िए, कोई दुःख नहीं। शरीर में बाहर आत्मा हो, वनी वो दुःख हो न ? अतः मिट है कि आत्मा सर्वव्यापी न होकर शरीर प्रमाणा ही है।

आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में संक्षिप्त पदार्थ चरनाते हुए भी बाकी विस्तारके साथ लिखा गया है। इतना लिखना था भी आवश्यक। यदि आत्मा का उचित अस्तित्व हो निश्चित न हो तो फिर आप जानते हैं धर्म, अधर्म की जगहों का मूल्य ही क्या रह जाता है ? धर्म का विस्तार नहीं, आत्मा की दुर्निवार पर ही सदा है न ?

आनन्द और जगें तो फिर वही हाथ-हाथ ! मोक्ष में कुछ काल तक आनन्द में रहना, और फिर वही कर्मचक्र की पीड़ा !

हां, तो आत्मा, कर्मफल में लित होने के कारण अनादिकाल से संसार चक्र में घूम रहा है, अन्न और स्यामर को चौरासी लाख योनियों में भ्रमण कर रहा है। कभी नरक में गया तो कभी त्रिपंच में, नाना गतियों में, नाना रूप धारण कर, घूमते घूमते अनन्त काल हो चुका है; परन्तु दुःख से छुटकारा नहीं मिलता। दुःख से छुटकारा पाने का एकमात्र साधन मनुष्य जन्म है। आत्मा का जब कभी अनन्त पुरपोद्दय होता है, तब कहीं मानव जन्म की प्राप्ति होती है। भारतीय धर्मशास्त्रों में मनुष्य जन्म की बड़ी महिमा गाई है ! कहा जाता है कि देवता भी मानव-जन्म की प्राप्ति के लिए तड़पते हैं। भगवान् महावीर ने अपने धर्म-प्रवचनों में, अनेक बार, मनुष्य-जन्म की दुर्लभता का वर्णन किया है—

कम्मरं तु पश्यात्

आप्तुं दुर्लभात् उ ।

जीवा सेरिम्मनुत्ता,

आनयन्ति मरुत्तयं ॥

—उत्तराध्यायन ३ । ७

—अनेकानेक योनियों में भटक कर दुःख भोगते-भोगते जब कभी अगुन कर्म खींच होते हैं, और आत्मा शुद्ध-निर्मल होता है, तब वह मनुष्यत्व की प्राप्ति करता है।

मोक्ष प्राप्ति के चार कारण दुर्लभ बताते हुए भी, भगवान् महावीर ने, अपने पावापुरी के अन्तिम प्रवचन में, मनुष्यत्व की ही सबसे पहले गिना है। वहां बतलाया है कि—‘मनुष्यत्व, शास्त्रअंगण, धर्मा और सदाचार के पालन में प्रयत्नशीलता—ये चार साधन जीव को प्राप्ति होने अत्यन्त कठिन हैं।’

क्या सबकुछ ही मनुष्य जन्म इतना दुर्लभ है ! क्या इतने के द्वारा

ही मोच मिलती है ? इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि मानव-मव
 अतीव दुर्लभ वस्तु है। परन्तु धर्मशास्त्रकारों का आशय, इसके
 कुछ और ही रहा हुआ प्रतीत होता है। वे दुर्लभताका भार, मनुष्य-शरीर
 पर न डाल कर, मनुष्यत्व पर डालते हैं। बात वस्तुतः है भी
 मनुष्य शरीर के पा लेने भर से तो कुछ नहीं हो जाता। हम अनन्त बार
 मनुष्य बन चुके हैं—सबे-सबे सुन्दर, सुरूप, बलवान् !
 कुछ नहीं हुआ। कभी-कभी तो खाम की अपेक्षा हानि ही अधिक
 उठानी पड़ी है। मनुष्य तो खोर भी है, जो निर्दयता के साथ दूसरों
 का घन चुरा लेता है ! मनुष्य तो कमाई भी है, जो प्रतिदिन निरीह
 पशुओं का खून बहाकर प्रसन्न होता है ! मनुष्य तो साम्राज्यवादी
 राजा लोग भी हैं, जिनकी राज्य-तृष्णा के कारण लाखों मनुष्य रात
 की रात में रणचण्डी की भेंट हो जाते हैं ! मनुष्य तो बेरया भी है,
 जो रूप के बाजार में बैठकर, चन्द चांदी के टुकड़ों के लिए अपना
 जीवन बिगाड़ती है, और देश की उठती हुई तरुण्य को भी मिट्टी में
 मिला देती है। आप कहेंगे, ये मनुष्य नहीं, राक्षस हैं। हाँ तो मनुष्य-
 शरीर पाने के बाद भी यदि मनुष्यता न प्राप्त की गई तो मनुष्य-
 शरीर बेकार है, कुछ लाभ नहीं। हम इतनी बार मनुष्य बन चुके हैं,
 जिसकी कोई गिनती नहीं। एक आचार्य अपनी कविता की भाषा में
 कहते हैं कि हम इतने मनुष्य शरीर धारण कर चुके हैं, यदि उनके
 रक्त को एकत्र किया जाय तो असंख्य समुद्र भर जाय, मांस को एकत्र
 किया जाय तो चांद और सूर्य तक दूध जाय, हड्डियों को एकत्र किया
 जाय तो अमंथ्य मेढ पर्वत बनें हो जायें। भाव यह है कि मनुष्य
 शरीर इतना दुर्लभ नहीं, जितनी कि मनुष्यता दुर्लभ है। हम जो
 अभी संसार सागर में गोते खा रहे हैं, इसका अर्थ यही है कि—हम
 मनुष्य तो बने, पर दुर्भाग्य से मनुष्यत्व नहीं पा सके, जिसके बिना
 किया कराया सब भूत में मिला गया, काता-पीड़ा फिर से
 कपास होगया।

मनुष्यता कैसे निज सकती है ? यह एक प्रश्न है, जिस पर सबके सब धर्मशास्त्र एक स्वर से जित्वा रहे हैं । मनुष्य, जीवन के दो पहलू हैं—एक अन्दर की ओर, दूसरा बाहर की ओर । जो जीवन बाहर की ओर झंझता रहता है, संसार की मोहनाया के अन्दर डलकर रहता है, अपने ज्ञान-सत्य को भूल कर केवल देह का ही पुजारी बना रहता है, वह मनुष्य-भ्रम में मनुष्यता के दर्शन नहीं कर सकता ।

[illegible]

कौन रह रहा है, इतना भी मान नहीं रहता। अब शरीर को ही 'मैं' कहने लग जाता है। देह के जन्म को अपना जन्म, देह के दुःखों को अपना दुःख, देह की आधिपत्याधि को अपनी आधिपत्याधि, देह की मृत्यु को अपनी मृत्यु समझता है, और कार्पनिक विभीषिकाओं के कारण रोने-धोने लगता है। शास्त्रकार इस प्रकार के भौतिक विचार रखने वाले देहात्मवादों को बहिरात्मा या मिथ्यारष्टि कहते हैं। मिथ्या संकल्प, मनुष्य को अपने वास्तविक अन्तर्जगत की अपूर्वा चैतन्य की ओर आकर्षित नहीं करते, हमेशा बाह्य जगत के भौतिक भोगविज्ञास की ओर ही, उसे उलझाये रखते हैं। केवल बाह्य जगत का द्रष्टा मनुष्य, आकृतिमात्र से मनुष्य है, परन्तु उसमें मोक्षमाधक मनुष्यत्व नहीं।

मनुष्य जीवन का दूसरा पहलू अन्दर की ओर आकर्षित है। अन्दर की ओर आकर्षित का अर्थ यह है कि मनुष्य देह और आत्मा को पूरक-पूरक वस्तु समझता है, अन्तर्जगत की अपेक्षा चैतन्य को अधिक महत्व देता है, और भोग विज्ञास की ओर से आँखें बन्द करके अन्तर में रहे हुए आत्मतत्त्व को देखने का प्रयत्न करता है। शास्त्र में उन्हें जीवन को अन्तरात्मा या सत्यगृष्टि का नाम दिया है। मनुष्य के जीवन में मनुष्यत्व की भूमिका यहीं से शुरू होती है। अधोमुखी जीवन को ऊर्ध्वमुखी बनाने वाला सत्यगृह्ण के अतिरिक्त और कौन है ? यही वह भूमिका है, जहाँ अनादि काल के अज्ञान अन्धकाराच्छा जीवन में सर्वप्रथम सत्य की सुनहली किरण प्रस्फुरित होती है।

पाठकों ने समझ लिया होगा कि मनुष्य और मनुष्यत्व में क्या अन्तर है ? मनुष्य का होना दुर्लभ है, या मनुष्यत्व का होना ? सत्यगृह्ण वर्तमान मनुष्यत्व की पहली सीढ़ी है। इस पर चढ़ने के लिए अपने आपको कितना बदलना होता है, यह सभी ऊपर की पंक्तियों में लिख

प्रयत्न किया था। उनके सभी प्रवचन मनुष्यता की माँकी से जगमगा रहे हैं। अब आप यह देखिए कि भगवान् मनुष्यत्व के विकास का किस प्रकार धर्यन करते हैं।

मनुष्यत्व का विकास

जैन धर्म के अनुसार मनुष्यत्व की भूमिका चतुर्थ गुण स्थान=सम्यग्दर्शन से प्रारंभ होती है। सम्यग् दर्शन का अर्थ है—'सत्य के प्रति दृढ़ विश्वास।' हां तो सम्यग् दर्शन मानव जीवन की बहुत बड़ी विभूति है, बहुत बड़ी आध्यात्मिक उत्थान्ति है। अनादि काल से अज्ञान अन्धकार में पड़े हुए मानव को सत्य सूर्य का प्रकाश मिल जाना कुछ कम महत्व की चीज नहीं है। परन्तु मनुष्यता के पूर्ण विकास के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है। अकेला सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्-दर्शन का सहचारी सम्यग् ज्ञान=सत्य की अनुभूति; आत्मा को मोक्षपद नहीं दिला सकते, कर्मों के बन्धन से पूर्णतया नहीं मुड़ा सकते। मोक्ष प्राप्त करने के लिए केवल सत्य का ज्ञान अथवा सत्य का विश्वास पर लेना ही पर्याप्त नहीं है; इसके साथ सम्यक् आचरण की भी बड़ी भारी आवश्यकता है।

जैनधर्म का यह भ्रूय मिथ्यान्त है कि ज्ञान और कर्मों में से श्रेष्ठ शान और क्रिया दोनों मिलकर ही आत्मा को मोक्षपद का अधिकारी बनाते हैं। भारतीय दर्शनों में न्याय, मार्य, वेदान्त आदि कितने ही दर्शन केवल ज्ञान मात्र से मोक्ष मानते हैं, उह कि मानात्मक आदि दर्शन केवल आचार=क्रियावाचक से ही मोक्ष स्वीकार करते हैं। परन्तु जैन धर्म ज्ञान और क्रिया दोनों के सयोग से मोक्ष मानता है, किसी एक से नहीं। यह अमिद बात है कि यह वे दो पक्षों में से यदि

एक चक्र न हो तो रथ की गति नहीं हो सकती । तथा च रथ का एक चक्र बड़ा और एक चक्र छोटा हो तब भी रथ की गति भली भौति नहीं हो सकती । एक पॉल से आग्रिक कोई भी पक्षी आकाश में नहीं उड़ सका है । अस्तु भगवान् महावीर ने स्पष्ट बतलाया है कि 'यदि तुम्हें मोक्ष की सुदूर भूमिका तक पहुँचना है तो अपने जीवनरथ के ज्ञान और सदाचरण रूप दोनों ही चक्र लगाने होंगे । केवल लगाने ही नहीं, दोनों चक्रों में से किसी एक को मुख्य या गौण बनाकर भी काम नहीं चल सकेगा, ज्ञान और आचरण दोनों को होक बराबर मुख्य रखा होगा ।' ज्ञान और क्रियाकी दोनों पॉलों के चक्र पर ही, यह आत्मपक्षी, निधेयस की ओर ऊर्ध्वगमन कर सकता है ।

स्वार्मांग सूत्र में प्रभु महावीर ने चार प्रकार के मानव जीवन बतलाए हैं:—

(१) एक मानव जीवन वह है, जो सदाचार के स्वरूप को तो पहचानता है, परन्तु सदाचार का आचरण नहीं करता ।

(२) दूसरा वह है, जो सदाचार का आचरण तो आवश्यक करता है, परन्तु सदाचार का स्वरूप भली भौति नहीं जानता । अश्व भेद किए गति करता है ।

(३) तीसरा वह स्थिति है, जो सदाचार के स्वरूप को बर्णार्थ रूप से जानता भी है और तदनुसार आचरण भी करता है ।

(४) चौथी भेदिका वह जीवन है, जो न तो सदाचार का स्वरूप जानता है और न सदाचार का कभी आचरण ही करता है । वह शौकिक भाषा में अग्धा भी है, और पाण्डहीन पंगुला भी है ।

अक्त चार विकल्पों में से केवल तीसरा विकल्प ही जो सदाचार को जानने और आचरण करने रूप है, मोक्ष की साधना को सफल बनाने वाला है । आध्यात्मिक जीवन-यात्रा के लिए ज्ञान के नेत्र और आचरण के पैर अतीव आवश्यक हैं ।

यैव परिभाषा में आचरण को चारित्र्य कहते हैं । चारित्र्य का अर्थ है—

मंदन, वातनासों का=भोगविलासों का त्याग, इंद्रियों का निग्रह, धनुम प्रवृत्ति की निवृत्ति, शुभ प्रवृत्ति की स्वीकृति ।

चारित्र्य के मुख्यतया दो भेद माने गए हैं—'सर्व' और 'देस' । अर्थात् पूर्ण रूप से त्याग वृत्ति, सर्व चारित्र्य है । और अल्पांश में अर्थात् अपूर्ण रूप से त्याग वृत्ति, देस चारित्र्य है । सर्वोत्तर में त्याग महामय्यरूप होता है—अर्थात् हिंसा, अस्वल्प, धौर्ष, मैथुन और परिग्रह का सर्वथा प्रायास्यमान साधुओं के लिए होता है । और अल्पांश में=अनुक सीमा तक हिंसा आदि का त्याग गृहस्थ के लिए माना गया है ।

प्रस्तुत प्रसंग में मुनिधर्म का वर्णन करना हमें अभीष्ट नहीं है । अतः सर्व चारित्र्य का वर्णन न करके देसचारित्र्य का, यानी गृहस्थ धर्म का ही वर्णन करते हैं । भूमिका की दृष्टि से भी गृहस्थ धर्म का वर्णन प्रथम अनेकित है । गृहस्थ जैन तत्त्वज्ञान में वर्णित गुरु म्यानों के अनुसार आत्मविकासकी पंचम भूमिका पर है, और मुनि छठी भूमिका पर ।

जैनगनों में गृहस्थ=आर्यक के चारह ऋतों का वर्णन किया है । उनमें पाँच अत्युन्नत होते हैं । 'अनु' का अर्थ 'झोटा' होता है, और ऋत का अर्थ 'प्रतिज्ञा' है । माधुओं के महामयों की जैसा गृहस्थों के हिंसा आदिके त्याग की प्रतिज्ञा नपाँदित होती है; अतः वह 'अत्युन्नत' है । तीन दुस्सन्न होते हैं । गुरु का अर्थ है विरोधता । अस्तु जो निम्न पाँच अत्युन्नतों में विरोधता उत्पन्न करने हैं, अत्युन्नतों के पावन में उपकारक एवं सहायक होते हैं, वे 'दुस्सन्न' कहलाते हैं। चार सिद्धा ऋत हैं । सिद्धा का अर्थ सिद्ध अन्वय है । जिनके द्वारा धर्म की सिद्धा से ज्ञान, धर्म का अन्वय किया जाए, वे प्रतिदिन अन्वय करने के योग्य निम्न 'सिद्धात्युन्नत' बने जाते हैं ।

पाँच अत्युन्नतः—

(१) तूट हिंसा का त्याग । बिना किसी अस्वल्प के धर्म ही जोनों को मारने के विचार से, प्रायश्चित्त करने के संकल्प से मारने का

पत्र है। व्यापार आदि में यदि निश्चित मर्यादा से कुछ अधिक धन प्राप्त हो जाय तो उसको परीक्षा में खर्च कर देना चाहिये।

तीन मुख्य बातें—

१. निम्न-पूर्व, परिवर्तन आदि दिसाओं में दूर तक जाने का परिणाम करना अर्थात् बहुत दिसा में बहुत प्रवेश तक इतनी कौतों तक जाना, जाने नहीं। यह मत मनुष्य की तीन वृत्ति पर प्रभुत्व रखता है, हिंसा से बचाता है। मनुष्य व्यापार आदि के लिए दूर देशों में जाता है, वहाँ की प्रथा का शोषण करता है। जिन किमों को उद्योग से धन बनता हो वह मुख्य हो जाता है, वो एक प्रकार से लड़ने की मनोवृत्ति हो जाती है। अतः यह धर्म का मुख्य आधार राज्य इस प्रकार की मनोवृत्ति से भी पार देखता है। वस्तुतः पार है नो। शोषण से बचकर और क्या पार होगा? धर्म के युग में यह पार बहुत बढ़ जाता है। निम्न-पूर्व इन पार में बचा सकता है। शोषण की भावना से न विदेरों में करना मत भेजना चाहिये, और न विदेरों का मत अपने देश में लाना चाहिये।

२. अन्तर्गत मनुष्य का उद्धार से ज्यादा अन्तर्गत मनुष्य का लोचन कर्म में लगे का नियम करना, प्रत्युत मत का अन्तर्गत है। मनुष्य का धर्म एक ही बात कर्म में जाने वाली वस्तु है। जैसे—अर्थ, धर्म, विवेक आदि। अन्तर्गत का धर्म बात बात कर्म में जाने वाली वस्तु है। जैसे नकल, वन्द, आनन्द आदि। इस प्रकार अर्थ, धर्म आदि मनुष्य के अन्तर्गत का अन्तर्गत के अन्तर्गत परिणाम करना चाहिये। मनुष्य के लिए अन्तर्गत को मनुष्य के देश में निम्न-पूर्व लाना अन्तर्गत अन्तर्गत है। अन्तर्गत अन्तर्गत अन्तर्गत होता है।

३. अन्तर्गत विचार का अन्तर्गत विचार अन्तर्गत के धर्म ही परावरण करना, अन्तर्गत धर्म है। अन्तर्गत के लिए इस प्रकार अन्तर्गत अन्तर्गत, अन्तर्गत तथा किमों को विचारने आदि धर्म की वृत्ति का

त्याग करना आवश्यक है। काम वाचना को उरीत करनेवाले मिनेमा देसना, गंदे उपन्यास पढ़ना, गंदी मजाक करना, व्यर्थ ही शस्त्रादि का संग्रह कर रखना आदि अनर्थ दृष्ट में सम्मिलित हैं।

चार शिक्षा व्रतः—

(१) सामायिक=दो घड़ी तक पापकारी व्यापारों का त्याग कर समभाव में रहना सामायिक है। राग द्वेष बढ़ाने वाली प्रवृत्तियों का त्याग कर मोह भावा के दुःसंस्कारों को हटाना, सामायिक का मुख्य उद्देश्य है।

(२) देशावकाशिक=जीवन मर के लिए स्वीकृत शिक्षा परिमाण में से और भी निम्न प्रति गमनादि की सीमा कम करते रहना, देशावकाशिक व्रत है। देशावकाशिक व्रत का उद्देश्य जीवन को निम्न प्रति की बाह्य प्रदेशों में आम्बित रूप पाप क्रियाओं से बचाकर रखना है।

(३) पौषधवन=एक दिन और एक रात के लिए अन्नहार्य, पुण्यमासा आदि शृङ्गार, शस्त्रधारण आदि सांसारिक पापयुक्त प्रवृत्तियों को छोड़ कर, एकाल स्थान में साधुवृत्तिके समान धर्म—क्रिया में आसूढ़ रहना, पौषधवन है। यह धर्ममाधना निराहार भी होती है, और शक्ति न हो तो अल्प प्रामुक्त भोजन के द्वारा भी की जा सकती है।

(४) अन्नाधमारभाग व्रत=माधु भावक आदि योग्य सदाचारी अधिकारियों को उचित दान करना, प्रस्तुत व्रत का स्वरूप है। संग्रह ही जीवन का उद्देश्य नहीं है। संग्रह के बाद वधानमर अनिधि की सेवा करना भी मनुष्य का महान कर्तव्य है। अनिधिमंविभाग का एक कष्ट रूप, हर किसी भूखे गरीब की अनुकंपा बुद्धि से सेवा करना भी है, वह ध्यान में रह।

मनुष्यता के विकास की यह प्रथम भेदी पूर्ण होती है। दूसरी भेदी माधु जीवन की है। यह माधु जीवन की भेदी, बड़े गुण स्थान से प्रारम्भ होकर नेरहवे गुणस्थान में कैवल्य ज्ञान प्राप्त करने पर

जन्म में चौदहवें पुनरुत्पन्न में पूर्ण होती है। चौदहवें पुनरुत्पन्न की भूमिका यह करने के बाद हमें मृत का प्रत्येक दाग साफ हो जाता है, ज्ञान पूर्णतया शुद्ध, स्वच्छ एवं स्वस्थ रूप में विद्यमान हो जाता है, परमका महाकाल के लिए स्वतंत्र होकर एवं अन्य ज्ञान मात्र आदि के दुष्प्रभावों से पूर्णतया मुक्तता पाकर मोक्ष इत्यादि को प्राप्त हो जाता है, परम-उत्पन्न ज्ञाना परमानन्द बन जाता है।

हमारे पाठ्य अपनी गृहस्थ है, अतः उनके समस्त हम माधुवीवन की भूमिका की दाग न करके पहले उनकी ही भूमिका का स्वरूप राख रहे हैं। जानने देना लिखा है कि गृहस्थधर्म के बाद मृत है। मनी मृत अपनी अपनी मर्यादा में उत्पन्न है। परन्तु यह स्पष्ट है कि नौवें सामाजिक मृत का महार सबसे महान माना गया है। सामाजिक का अर्थ समभाव है। अतः निश्चय है कि जब तक हृदय में समभाव न हो, राग द्वेष की परिणति कम न हो, तब तक उग्रता एवं उग्र आदि की साधना किन्हीं हीनताओं न की जाय, ज्ञानगुणि नहीं हो सकती। वस्तुतः समस्त मृतों में सामाजिक ही मोक्ष का प्रधान अंग है। अहिंसा आदि ग्राह्य मृत इनो समभाव के द्वारा जंघित रहते हैं। गृहस्थ जीवन में प्रतिदिन ज्ञाना की दृष्टि से ही यही तक यह सामाजिक मृत किया जाता है। जाने चलकर मुनिजीवन में यह सारजोवन के त्रिपे धारण कर लिखा जाता है। अतः संघन गुरु स्थान से लेकर चौदहवें गुरु स्थान तक एकमात्र सामाजिक मृत की ही साधना की जाती है। मोक्ष अवस्था में, जबकि साधना समस्त होती है, समभाव पूर्ण हो जाता है। और इन समभाव के पूर्ण हो जाने का मूल ही मोक्ष है। यही कारण है कि प्रत्येक धर्मिक मुनिदीक्षा लेते समय कहते हैं कि मैं सामाजिक प्रारम्भ करता हूँ—ब्रह्म समाज—कल्याण। और केवल शान प्राप्त हो जाने के बाद प्रत्येक धर्मिक सर्वप्रथम उनका ही इसी महान मृत का उपदेश करते हैं—नानन्द... उनके धर्मों वारो विरोधी लगे-हो उदार-हो, धारणक निरुद्धि। वैदिकान्तिक जगतके महान ज्योतिषर की

परमेश्वरजी सामायिक को संपूर्ण ब्राह्मण जिन बापों का रहस्य बताते हैं—सकल ब्राह्मणोंकेनिन्द्य भूत सामायिक स्वरूप—तत्त्वार्थदीका । अस्तु मनुष्यता के पूर्ण विकास के लिए सामायिक एक सर्वोत्तम साधन है । अतः हम आज पाठकों के समक्ष इसी सामायिक के शुद्ध स्वरूप का विवेचन करना चाहते हैं ।

सामायिक का शब्दार्थ

सामायिक शब्द का अर्थ बड़ा ही मिलस्प है। व्याकरण के नियमानुसार, प्रत्येक शब्द का भाव, उसी में अन्तर्हित रहता है। अतएव सामायिक शब्द का संजीर एवं उदार भाव भी, उसी शब्द में पुरा हुआ है। हमारे प्राचीन जैनाचार्य हरिभद्र, भद्रपण्डित आदि ने निम्न-निम्न व्युत्पत्तियों के द्वारा, यह भाव, मंथन में इस भाँति प्रकट किया है।

(१) भ्रमर—मय द्रुगन्तराजवर्तिना मण्डपस्य आनः लानः सन्नाहः सन्नाह एव सामायिकम् । शब्दार्थ में मण्डपस्थ रहना सम है, अतएव साधक को मनस्स मण्डपस्थ भाव आदि का जो आय-लान है, वह सामायिक है।

(२) भ्रमरि—भ्रमरदर्शनकरिवादि, तेषु भ्रमरभ्रमनं सन्नाहः स एव सामायिकम् । मोक्ष मार्ग के साधन ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य सम कहलाते हैं; उनमें भ्रमन यानी प्रवृत्ति करना, सामायिक है।

(३) 'मय जीवेषु मैत्रो सानः सानो आनः लानः सानाहः स एव सामायिकम् । सब जीवों पर मैत्रीभाव रखने को सान कहते हैं, अतः सान का सान विषय हो, वह सामायिक है।

(४) भ्रमः सानमणेन करिहार निरवयवयोगानुष्ठान स्वर जीव-परि-
सन्नाहः स एव सामायिकम् । सावध योग अर्थात् पाद कायों का परित्याग और निरवयव योग अर्थात् अहिंसा, दया

: ६ :

नामाधिक का स्वरूप

स्वरूप के अनिश्चित स्वरूप का स्वरूप भी हुआ करता है। यथोक्तान में प्रचलित प्रत्येक धार्मिक विद्या का जो स्वरूप है, वह ऊपर से तो बहुत संक्षिप्त, सीमित एवं स्थूल ज्ञात होता है; परन्तु उन्में रहा हुआ अल्प, हेतु या रहस्य बहुत ही गंभीर, विस्तृत एवं विचारपूर्ण बनने योग्य होता है।

नामाधिक विद्या, जो एक बहुत ही पवित्र एवं विस्तृत विद्या है, उसका स्वरूप यह है कि—‘एकान्त स्थान में शुद्ध ज्ञानन दिखाकर शुद्ध वस्त्र अपांत् अल्प हिमा से बना हुआ, सादा (रंग पिरंगा नहकोला नहीं) खादी आदि का वस्त्र परिधान कर, दो घड़ी तक करेनिमित्त के पाठ से सादर व्याख्यान का परिष्कार कर, सांसारिक भ्रमों से अलग होकर, अन्तर्गत योग्यता के अनुसार अभ्यसन, चिन्तन, प्यान, उद धन-कथा आदि करना नामाधिक है।’

क्या ही अच्छा हो, स्वरूप स्वरूप से और स्वरूप स्वरूप से मिल जाय, सोने में सुगन्ध होजाय।

‘समता का सकल उपासक होता है, उसी की सामायिक विशुद्धता की ओर घूमर होती है।

प्राचीन आगम अनुयोग द्वार मूय में तथा आचार्य भद्रबाहु स्वामी कृत आवश्यक नियुक्ति में समभाव सामायिक का क्या ही सुन्दर वर्णन किया गया है:—

जो समो सज्जमूयसु
तसेमु भावरेसु य ।
तस्म सामाश्यं होइ,
इह केवलि-भामियं ॥

‘जो साधक ब्रह्म स्थावर रूप सभी जीवों पर समभाव रखता है उसी की सामायिक शुद्ध होती है—ऐसा केवली भगवान ने कहा है।’

जस्म सामाशित्यो अय्या,
संजमं शियमे तवे ।
तस्म सामाश्यं होइ,
इह केवलि-भामियं ॥

‘जिसकी आत्मा संयम में, तप में, नियम में सन्निहित-संलग्न हो जाती है; उसी की सामायिक शुद्ध होती है—ऐसा केवली भगवान ने कहा है।’

आचार्य हरिभद्र पंचाशक में लिखते हैं—

समभारो सामाश्यं,
तथ-कचरु-सत्तुमित्त विषउत्ति ।
शिरुमिस्संग चित्तं,
उचिय पयित्तिमहाण च ॥

‘चाहे तिनका हो चाहे सोना, चाहे शत्रु हो चाहे मित्र, सर्वत्र अपने मनको राग-द्वेष की आशक्ति से रहित शांत रखना तथा पापरहित उचित धार्मिक प्रवृत्ति करना, सामायिक है; क्योंकि समभाव ही जो सामायिक है।’

द्रव्य और भाव

उत्तम धर्म में प्रत्येक वस्तु का द्रव्य और भाव की दृष्टि से बहुत समीक्षित विचार किया जाता है। अतएव सामान्यिक के लिए भी प्रश्न होता है कि द्रव्य सामान्यिक और भाव सामान्यिक का स्वरूप क्या है ?

१ द्रव्य सामान्यिक—द्रव्य का अभिप्राय यहाँ ऊपर के विधि-विधानों तथा मापनों से है। अतः सामान्यिक के लिये ज्ञानन विद्याना, रजो-हरण का पूँजरी रखना, मुग्धरतिहरण बांधना गृहस्थ वेद के करने उपासना, नासा धेनो आदि द्रव्य सामान्यिक है। द्रव्य सामान्यिक का वर्तन द्रव्य-शुद्धि, रजो-शुद्धि आदि के वर्तन में कच्ची तरह किया जाने वाला है।

२ भाव सामान्यिक—भाव का अभिप्राय यहाँ अन्तर्हृदय के भावों से विचारों से है। अर्थात् राग-द्वेष से रहित होने के भाव रखना, राग-द्वेष से रहित होने के लिए प्रयत्न करना, यथावन्ति राग-द्वेष से रहित होवे

१ श्रेष्ठतर मन्त्राण के दो भाग हैं स्थानकपत्नी और मूर्ति पूजक। स्थानक पत्नी स्थान में मुग पर मुग्धरतिहरण लगाने की प्रयोग है, और मूर्तिपूजक मन्त्र में मुग्धरतिहरण की हाथ में रखने की प्रथा है। इस दोनों स्थान पत्नी के लिये मुग पर लगाने का विधान, उनके पास भी है। श्रेष्ठतर तीन श्रेष्ठतर में दो छात्रकल सामान्यिक की प्रथा ही नहीं है। उनके पास सामान्यिक के लिये एक तरह रीति प्रथा है और मुग्धरतिहरण का कोई विधान नहीं है।

है। यदि द्रव्य के साथ भाव का ठीक-ठीक सामंजस्य न भी बैठ सके, तो भी कोई आपत्ति नहीं। अन्यास चालू रखना चाहिये। धरुद करने वाले किसी दिन शुद्ध भी करने के योग्य हो जाएंगे। परन्तु जो बिलकुल ही नहीं करने वाले हैं, वे क्यों कर आगे बढ़ सकेंगे? उन्हें तो कोरा ही रहना पड़ेगा न? जो अस्पष्ट बोलते हैं, वे बालक एक दिन स्पष्ट भी बोल सकेंगे। पर मूक क्या करेंगे?

भगवान् महावीर का आदर्श 'कटे भाये कड' का है। जो मनुष्य साधना के क्षेत्र में चल पड़ा है, भले वह थोड़ा ही चला हो, परन्तु चलने वाला यात्री ही समझा जाता है। जो यात्री हजार मील लंबी यात्रा करने को चला हो, अन्तिम गांव के बाहर ही पहुँचा हो, फिर भी उसकी यात्रा में मार्ग तो बन हुआ? इसी प्रकार पूर्ण सामायिक करने की वृत्ति से यदि थोड़ा सा भी प्रयत्न किया जाए, तब भी वह सामायिक के छोटे से छोटे अंश को अवश्य प्राप्त कर लेता है। आज थोड़ा तो कल और अधिक। बूंद-बूंद से सागर भरता है।

सामायिक शिक्षा मत है। आचार्य श्री हरिमद ने कहा है— 'साधु धर्मान्यासः शिक्षा' अर्थात् जिससे थोड़ा धर्म का योग्य अन्यास हो, वह शिक्षा कहलाती है। उक्त कथन से सिद्ध हो जाता है कि— सामायिक मत एक बार ही पूर्णतया अपनाया नहीं जा सकता। सामायिक की पूर्णता के लिए निरन्तर प्रति का अन्यास आवश्यक है। अन्यास की शक्ति महान् है। बालक प्रारम्भ में ही वर्तमाना के अक्षरों पर अधिकार नहीं कर सकता। वह पहले, अष्टाक्षर की भाँति, बकिन्टेदे, मोटे-मल्ले अक्षर बनाता है, सौन्दर्य की दृष्टि से सर्वथा हताश हो जाता परन्तु ज्योंही वह आगे बढ़ता है, अन्यास में प्रगति करता है, तो बहुत सुन्दर लेखक बन जाता है। लक्ष्यबोध करने वाला पहले ठीक ठौर से लक्ष्य नहीं वेध सकता, आग-पाँवा विरवा हो जाता है; परन्तु निरन्तर के अन्यास से हाथ स्थिर होता है, दृष्टि चौकस्त होती है, और एक दिन का अनादी निशाने दाज, अचूक शब्द-मेदो तक बन जाता है।

यह ठीक है कि सामायिक की बड़ी कठिन भाषना है, सहज ही यह सम्भव नहीं हो सकती। परन्तु अभ्यास करिए, आगे बढ़िए, आपको भाषना का उज्ज्वल प्रकाश एक न एक दिन अवश्य जगमगाता मंत्र आयेगा। एक दिन का साधना स्रष्ट मरीचि तपस्वी, कुछ जन्मों के बाद भगवान् महावीर के रूप में हिमालय जैसा महान, अत्यन्त-अच्छ साधक बनता है और समभान के क्षेत्र में भारत की काया पलट कर देता है।

सामायिक की शुद्धि

संग्रह में काम करनेका महत्त्व उतना नहीं है, जितना कि काम को ठीक करने का महत्त्व है । यह न मालूम करो कि काम-कितना किया, बल्कि यह मालूम करो कि काम कैसा किया ? काम अधिक भी किया परन्तु यह सुन्दर रंग से, जैसा चाहिए था वैसा, न किया तो एक तरह से कुछ भी न किया ।

सामायिक के सम्बन्ध में भी यही बात है । सामायिक साधना की महत्ता, मात्र जैसे-जैसे साधना का बाज पूरा कर देता, एक सामायिक की दृष्टि पर-दौर सामायिक बन लेता नहीं है । सामायिक की महत्ता इसमें है कि आपकी सामायिक बनते-देखकर दूसरों के हृदय में भी सामायिक के प्रति भ्रम जागृत हो, वे लोग भी सामायिक करने के लिए उत्तम हो । आपका अपना काम बरपाए तो होता ही चाहिए । वह किया ही गया, जो अपने और दूसरों के हृदय में बोंरे साम सम्बन्ध न पैदा करे । वास्तव जीवन साधना ही साधना है, दृष्ट-साधना का बोंरे मूल्य नहीं है ।

सामायिक करने के लिए सबसे पहले भूमिका की शुद्धि होना आवश्यक है । यदि भूमि टूट होती है तो उसमें बोला हुआ बीज भी पतनपाक होता है । इससे बिना यदि भूमि टूट नहीं है तो उसमें बोला हुआ बीज भी सुन्दर और सुखासु पक बीजों में बदलता है । आप सामायिक के लिए भूमिका स्वरूप पर स्वर की शुद्धि आवश्यक है—

इन्द्र सुदि, चैत्र सुदि, कार्तिक सुदि और भाद्रपद सुदि । उक्त चार सुदियों के साथ ही दूरे सामायिक ही पूर्ण सज्जदायिनी होगी है, अन्त्या नहीं । संकेत में चारों तरह की सुदि की व्याख्या इस प्रकार है—

१. दश गुण—सामायिक के लिए जो भी अश्विन, वरुण, शक्रादिक या ११ जमी, माता, मुनि वसिष्ठा, तुलसी आदि प्रत्यक्ष-माध्यम आवश्यक है, उनका सुष्ठु-अन्त्यादि, अद्विष्टक एवं उपयोगी होना आवश्यक है । राजादिक आदि उपकरण, जीवों की वनता (रक्षा) के उद्देश्य से ही रखे जाते हैं, इतिहास उपकरण जैसे होने चाहिये जिनके उन्नादन में अधिक दिना न दूरे हो, जो विकारीत्यायक न हो, जो सौम्यता की दृष्टि से न रखे गए हो, जो संयम की अभिवृद्धि में सहायक हो, जिनके द्वारा जीवों की अच्छी भोजन वनता हो सकती हो ।

अश्विन ही साग सामायिक में काममें होना चाहिए गुप्तगुप्त अश्विन लगे हैं, अश्विन सुष्ठुवता के लिए, राजादिकों, वृक्षद्वारा, अश्विन बना लगे हैं, अश्विन इस प्रकार के अश्विनों की अच्छी भोजन प्रतिवेचना नहीं हो सकती । अश्विन अश्विन तथा होना चाहिये, जो कहे जाया न हो, राजादिक न हो विकारीत्यायक न हो, मिट्टी में भरा हुआ न हो किन्तु अश्विन-वृक्ष का होना हो, पारा हो, अश्विन ही अश्विन का हो ।

राजादिक या १ जमी की वनता होगी चाहिये, जिनमें अच्छी-भोजन अश्विन की वनता हो या न हो । इस अश्विन के १ जमी वनता है, जो अश्विन की वनता दूरे होगी है जो अश्विन माता अश्विन के काम की वनता है अश्विन एवं १ जमी का नहीं । १ जमी का वनता काम, अश्विन अश्विन अश्विन के अश्विन वनता है । अश्विन १ जमी का वनता अश्विन-अश्विन अश्विन है अश्विन के अश्विन वनता की वनता है नहीं वनता ।

अश्विन-अश्विन की अश्विन-अश्विन वनता अश्विन वनता की वनता वनता है । अश्विन के अश्विन अश्विन-अश्विन वनता है, अश्विन, वनता वनता है ।

रखते हैं कि जिससे जनता घृणा करने लग जाती है। धर्म तो उपकरण की शुद्धता में है, उसका ठीक हंग से उपयोग करने में है, उसे गंदा एवं धीमत्स रखने में नहीं। कुछ बहनें मुखवस्त्रिका की गहना ही बना रख छोड़ती हैं, गोया लगाती हैं, सलने में सजाती हैं, मोती जड़ती हैं परन्तु ऐसा करना सामाधिक के शान्त एवं मनताम्य वातावरण को कलुषित करना है, यतः मुखवस्त्रिका का सादा-स्वच्छ होना ही ठीक है।

बर्तों का शुद्ध होना भी आवश्यक है। इसशुद्धता का अर्थ इतना ही है कि बर्र गंदे न हों, दूसरों की घृणा उत्पन्न करने वाले न हों, घट-कीड़े-भड़कीले न हों, रंग-धिरंगे न हों, किन्तु स्वच्छ सफ़े हों, सादे हों।

माला भी कीमती न होकर मूत की या और कोई साधारण धेसी की हो। बटुनूय मोती आदि की माला मनता बढ़ानेवाली होती है, कर्मांकनी अहंकार आदि की अनुचित भावना भी प्रबल कर देती है। सुत आदि की माला भी स्वच्छ हों, गंदी नहीं।

पुस्तकें भी ऐसी हों, जो भाव और भाषा की दृष्टि से महत्वपूर्ण हों, ध्यानज्योति की जागृत करने वाली हों, हृदय में से काम, क्रोध, भद्र, लोभ आदि की वासना हीरा करने वाली हों, जिनसे किसी प्रकार का विकार एवं सान्द्रादिक आदि विट्पे न पैदा होता हो।

सामाधिक में गहना आदि का धारण करना भी ठीक नहीं है। जो गहने निकाले जा सकते हों, उन्हें छलग करके ही सामाधिक करना ठीक है। अन्यथा मनता का पारा सदा लगा ही रहेगा, हृदय शान्त नहीं हो सकेगा। वस्त्र भी धोती और चादर आदि के अतिरिक्त और न होने चाहिएँ। सामाधिक त्याग का क्षेत्र है, यतः उनमें त्याग का ही प्रतीक होना अत्यावश्यक है।

पद्यि सामाधिक में 'सावज्जं जोगं परवक्कामि' 'मावद्व पानी मादन्धारां का परित्याग करता हूँ', उक्त नियमने पार कायिक त्याग का ही उल्लेख है, वस्त्र आदि के त्याग का नहीं। परन्तु हमारी प्राचीन परंपरा इसी प्रकार की है कि कपुष्ट अलंकार तथा गृहस्थवेपोचित

उसे शास्त्रीय विधिविधानों के पथ पर ही चलना आवश्यक है।

२ श्रेय मुद्रि—श्रेय से मतलब उस स्थान से है, जहाँ साधन सामायिक करने के लिए बैठता है। श्रेय मुद्रि का अभिप्राय यह है कि सामायिक करने का स्थान भी शुद्ध होना चाहिए। जिन स्थानों पर बैठने से विचार धारा दृढ़ती हो, चित्त में चंचलता आती हो, अधिस्त्री-पुरुष या पशु आदि का आवागमन अथवा निवास हो, खरके और सड़कियाँ कोलाहल करते हों—लेखते हों, विषय-विकार उत्पन्न करने वाले शब्द कान में पड़ते हों, इधर-उधर दृष्टिपात करने से विकार पैदा होता हो, अथवा कोई क्लेश उत्पन्न होने की सम्भावना हो, ऐसे स्थानों पर बैठकर सामायिक करना ठीक नहीं है। आत्मा को उत्पन्न दृग् में पहुँचाने के लिए, अन्तर्हृदय में समभाव की पुष्टि करने के लिए श्रेय मुद्रि एक अत्यावश्यक ध्येय है। अतः सामायिक करने के लिए वही स्थान उपयुक्त हो सकता है, जहाँ चित्त स्थिर रह सके, आत्म चिन्तन किया जा सके, और गुरुजनों के संसर्ग से यथोचित ज्ञान वृद्धि भी हो सके।

जहाँ तक हो सके घर की अपेक्षा उपाश्रय में सामायिक करने का ध्यान रखना चाहिए। एक तो उपाश्रयका वातावरण गृहस्थीकी संस्कृति से विस्तृत अलग होता है। दूसरे सहधर्मी भाइयों के परिचय से अपर्यवर्तन संस्कृति की महत्ता का ज्ञान भी होता है। उपाश्रय, ज्ञान के आदान-प्रदान का सुन्दर साधन है। उपाश्रय का शाब्दिक अर्थ भी सामायिक के लिए अधिक उपयुक्त है। एक व्युत्पत्ति है, उप=उत्कृष्ट आश्रय=स्थान। अर्थात् मनुष्यों के लिए अपने घर आदि स्थान केवल आश्रय हैं; जबकि उपाश्रय इहलोक तथा परलोक दोनों प्रकार के जीवन को उन्नत बनानेवाला होने से एवं धर्मसाधना के लिए विस्तृत उपयुक्त स्थान होने से उत्कृष्ट आश्रय है। दूसरी व्युत्पत्ति है—‘उप=उपसङ्गण से आश्रय=स्थान।’ अर्थात् निरक्षय दृष्टि से आत्मा के लिए वास्तविक आश्रय=आधार वह स्वयं ही है, और कोई नहीं। परम्परा

उक्त ज्ञान स्वरूप आश्रय की प्राप्ति, व्यावहारिक दृष्टि से धर्म स्थान में ही घटित हो सकती है, अतः धर्म स्थान उपाध्य कहलाता है। तीसरी व्युत्पत्ति है—‘उप=अनीर में आश्रय=स्थान।’ अर्थात् जहाँ जाना अपने विद्युद् भागों के पास पहुँच कर आश्रय ले, वह स्थान। भाव यह है कि—उपाध्य में बाहर की सांसारिक गड़बड़ कम होती है, चारों ओर की प्रकृति शांत होती है, एकनाय धार्मिक वातावरण की महिमा ही मन्तुव रहती है; अतः सर्वथा एकान्त, निरानय, निरुप-द्रव एवं कायिक, वाचिक, मानसिक शोक से रहित उपाध्य सामाजिक के लिए उपयुक्त माना गया है। यदि घर में भी ऐसा ही कोई एकान्त स्थान हो, तो वहाँ पर भी सामाजिक की जा सकती है। शास्त्रकार का अनिमाय शान्त और एकान्त स्थान में है, फिर वह कहाँ भी मिले।

३ काल मुद्रि—काल का धर्म सनप है, अतः योग्य सनप का विचार रखकर जो सामाजिक की जाती है वही सामाजिक निर्विघ्न तथा शुद्ध होती है। बहुत से सज्जन सनप की उचितता अथवा अनुचितता का मिलुल विचार नहीं करते, यों ही जब जो चाहा तनी अयोग्य सनप पर सामाजिक करने बैठ जाते हैं। फल यह होता है कि सामाजिक में मन शान्त नहीं रहता, अनेक प्रकार के संकल्प विकल्पों का प्रवाह नस्तिष्क में तूफान खड़ा कर देता है, सामाजिक का गुद्गोबर हो जाता है।

आजकल एक बुरी धारणा चल रही है। यदि घर में किसी की बीमारी हो, और दूसरा कोई सेवा करनेवाला न हो, तब भी बीमार को सेवा को छोड़ कर लोग सामाजिक करने बैठ जाते हैं। यह प्रथा उचित नहीं है। इस प्रकार सामाजिक का महत्व घटता है, दूसरों पर बुरी धार पड़ती है। वह काल सेवा का है, सामाजिक का नहीं। दशवैकाल में कहा है—‘काले कालं स्नाने’ जिन कार्य का जो सनप हो, उस सनप वही कार्य करना चाहिए। यह कहाँ का धर्म है कि घर में बीमार कराहता रहे और तुम उधर सामाजिक में स्तोत्रों की मन्त्रियाँ लगाते

वचन से जी मूख है। वह प्रमत्तचरित्र रात्रि जैसा महात्माओं को भी चालमुंहन लीसे अज्ञ समय में सातवीं गरक के द्वार तक पहुँचा देता है और फिर वापस लौटकर केवल ज्ञान—केवल दर्शन के द्वार पर लपका कर देता है। सभी तो कहा है, 'मनोविशेषा जगतो रिजेता'—'मन का जीनने बाधा, जगत् का जीनने बाधा है।' मनुष्य की शक्ति परंपरा है, वह जाने तो मन पर अपना अत्यन्त शासन चला सकता है। इसके लिए ज्ञान करना, ध्यान करना, मध्याह्निक का व्यवहार करना आनन्ददायक है। अन्तर्गत में अपनी 'महार्थ' नवकार' नामक धर्मग्रन्थ में इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है।

२ वचन गुट्टे—मन एक गुप्त एवं परोक्ष शक्ति है, अतः वहाँ प्रत्यक्ष कुछ करना, कठिनता है। परन्तु वचन शक्ति तो प्रगट है, इसलिए तो प्रत्यक्ष निर्वचन का संसार लगाया जा सकता है। प्रत्यक्ष तो सामायिक करने समय वचन को गुप्त ही रखना चाहिए। यदि इनका न हो सके तो कम-से-कम वचन समिति का पाठन तो करना ही चाहिए। इसके लिए यह ध्यान में रखना चाहिए कि सामायिक वचन में कर्तव्य, कठोर, और दूसरे के कार्य में रित्त डालने वाला वचन न बोले। सामान्य अर्थों में किसी जीव की हिंसा हो, ऐसा वचन भी न बोले। कोन से, मान से, माया से, कोन से वचन बोझना भी निषिद्ध है। किसी की चला-दुली के लिए झटेली करना, हीन वचन बोझना, विचक्षण का अतिशयोक्ति से बोलना भी दोष नहीं। मध्य भी ऐसा नहीं बोलना, जो दूसरे का अपमान करने वाला हो, वधेय का हिंसा करने वाला हो। वचन अन्तरगत—दुनिया का प्रतिबिम्ब है, अतः मनुष्य को हर समय, विगच्छक सामायिक के समय, कभी मानवादी से अपनी का प्रमाण करना चाहिए। वही हिंसाहित परिणाम का विचार करो और फिर बोला इस मनुष्य के विद्वान् को भूझना, अपनी मनुष्यता को भूझना है।

३ वचन गुट्टे—कल दृष्टि का वह अर्थ नहीं है कि, कठोर की

साफ सुधरा, सजा-धजा कर रखना चाहिए। यह ठीक है कि शरीर को गंदा न रखना जाय, स्वच्छ रखना जाय; क्योंकि गंदा शरीर मानसिक-शान्ति को ठीक नहीं रहने देता, धर्म की भी हीलना करता है। परन्तु यहां काय शुद्धि से हमारा अभिप्राय कायिक संयम से है। आन्तरिक आचार का भार मन पर है और बाह्य आचार का भार शरीर पर है। जो मनुष्य उठने में, बैठने में, खड़ा होने में, हाथ पैर आदि को इधर-उधर हिलाने-हुलाने में विवेक से काम लेता है; असभ्यता नहीं दिखलाता है, किसी भी जीव को पीड़ा नहीं पहुँचाता है; वही काय शुद्धि का सच्चा उपासक होता है। जबतक हमारा बाह्य कायिक आचार शुद्ध एवं अनुकरणीय नहीं होगा, तबतक दूसरे अनुकरण प्रिय साधकों पर हम अपना क्या धार्मिक प्रभाव डाल सकते हैं? हमारे में आन्तरिक शुद्धि है या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर जनता को हमारे बाह्य-आचरण पर से ही तो मिलेगा। आन्तरिक शुद्धि की आधार भूमि, बाह्य शुद्धि ही है।

६ अविनय—सामायिक के प्रति आदरभाव न रखना, अथवा सामायिक में देव, गुरु, धर्म का अविनय करना 'अविनय' दोष है।

१० अवदुमान—अंतरंग भक्तिभाव से उन्माहित होकर सामायिक न करना, किसी के दबाव में या किसी की प्रेरणा से बेगार समझे हुये सामायिक करना 'अवदुमान' दोष है।

वचन के दश दोष

कुवचन, सहसाकारे

सङ्गद मत्सेव कलहं च ।

विष्णुश्च विद्वांसोऽमुदं

निरवेक्यो मुमुक्षुश्चोमा दम ॥

१ कुवचन—सामायिक में कुमिष्ट, गंदे वचन बोलना 'कुवचन' दोष है।

२ सहसाकार—बिना विचारे सहसा हानिकर, अमत्य वचन बोलना 'सहसाकार' दोष है।

३ सङ्गद—सामायिक में काम वृद्धि करने वाले, गंदे गीत गाना 'सङ्गद' दोष है। गंदी बातें करना भी इसमें सम्मिलित है।

४ मत्सेव—सामायिक के पाठ को संछेप में बोल जाना, वधार्थ रूप में न पढ़ना, संछेप दोष है।

५ कलह—सामायिकमें कलह पैदा करनेवाले वचन बोलना 'कलह' दोष है।

६ विकथा—बिना किसी अर्थ उद्देश्य के व्यर्थ ही मनोरञ्जन की दृष्टि से छी कथा, भक्त कथा, राज कथा, देश कथा करने लग जाना 'विकथा' दोष है।

७ हास्य—सामायिक में हँसना, कौतूहल करना एवं व्यंग्यपूर्ण शब्द बोलना 'हास्य' दोष है।

८ अशुद्ध—सामायिक का पाठ जल्दी-जल्दी शुद्धि का ध्यान रखे बिना बोलना, या अशुद्ध बोलना 'अशुद्ध' दोष है।

६ निरपेक्ष—साम्नायिक में शास्त्र की उपेक्षा करके प्रायः सोलना कथवा बिना सावधानी के वचन सोलना 'निरपेक्ष' दोष है।

१० भुम्भन—साम्नायिक के पाठ आदिका स्पष्ट उच्चारण न करना, किन्तु गुनगुनाते हुए सोलना 'भुम्भन' दोष है।

काय के बारह दोष

बुद्धाग्रं चक्षुःश्रोत्रं चान्नां शिष्टी,

मनसश्चैव तन्मया-बुद्ध्या पञ्चकं ।

आत्मनोऽप्येवमन्ना-विनासरं

निरा पेनान्वबति वाग्यं वाचं शीघ्र ॥

१ बुद्धाग्र—साम्नायिक में पैर पर पैर घसाकर अभिमान से बैठना कथवा गुरु महाराज आदि के समक्ष आश्रित्य के आसन से बैठना, 'बुद्धाग्र' दोष है।

२ चक्षुः—एक आसन से बैठकर साम्नायिक करना, कथौत् स्थिर आसन से न बैठकर बार बार आसन बदलते रहना, 'चक्षुः' दोष है।

३ श्रोत्र—कानों की स्थिति को स्थिर न रहना, बार-बार कभी ऊपर तो कभी उधर होना 'श्रोत्र' दोष है।

४ अन्ना शिवा—जोत से स्पर्श सादर पारदुर्ग किया करना, या दूसरों को स्पर्श करना, तथा घर की सस्वाली बगैरह करना 'अन्ना शिवा' दोष है।

५ आत्मनो—स्वयं किसी योग्यि काय के दोषों आदि का महत्ता धेध रहना, 'आत्मनो' दोष है।

६ आश्रित्यमन्नाग्र—किसी किसी विशेष स्थान के लिये बैठने की विशेषता और काल काय 'आश्रित्यमन्नाग्र' दोष है।

७ अन्नाग्र—साम्नायिक में बैठे हुए आसन करना, कथौत् धेध 'अन्नाग्र' दोष है।

अठारह पाप

सामाजिक के पाठ में जो 'भावज्जं ओमं पप्पस्समि' अंश आता है, वहाँ भावज्ज का अर्थ सापद है, अर्थात् अवयव=पाप, उसमें सहित । भाव यह है कि सामाजिक में उन सब बातों का त्याग करना होता है, जिनके करने से पाप कर्म का बन्ध होता है, आत्मा में पाप का स्रोत आता है ।

साधकियों में पाप की व्याख्या करने हुए अठारह सामाजिक कार्यों में पाप बताया है । उन अठारह में से कोई भी कार्य करने पर पाप-कर्म का बन्ध होकर आत्मा भारी हो जाता है । और जो आत्मा कर्मों के बोझ से भारी हो जाता है, वह बड़ा-बड़ा समझाव को, आध्यात्मिक अभ्युदय को प्राप्त नहीं कर सकता । उसका पतन होता अनिवार्य है । संसार में अठारह पापों की व्याख्या इस प्रकार है—

१. मात्तणिया-विहिसा करना । जीव बड़ा-बड़ा विषय है, अतः वह न कभी जाता है और न सोता । अतएव जीवविहिसा का अर्थ यह है कि, जीव के ऊपर छिद्र जो मन, एवम्, शरीर एवं इन्द्रिय आदि आदर्य्य सामग्री एकत्रित की है, उसको नष्ट करना, यदि पहुँचाना, विना है । लक्ष्यार्थ शब्द में कहा है कि 'अमल्लोकात् अमल्लोकात् विहिसा'—अर्थात् बोध, ज्ञान, साध, बोध आदि विना की अमल्लोका से विना भी आत्मा के आत्मा को विना की प्रकृति का अन्तः पहुँचाना 'विहिसा' है ।

२. मृपावाद=मूठ बोलना । जो बात जिस रूप में हो, उसको उस रूप में न कहकर विपरीत रूप में कहना, वास्तविकता को झिगाना 'मृपावाद' है । किसी भी अनेपद या ना समझ व्यक्ति को मोचा दिवाने की दृष्टि से, उसे अनेपद या बेवकूफ आदि मध्य धचन कहना भी मृपावाद है ।

३. अदत्तादान=चोरी करना । जो पदार्थ अपना नहीं, किन्तु दूसरे का है, उसको मालिक को आज्ञा के बिना झिपाकर गुप्त रीति से ग्रहण करना 'अदत्तादान' है । केवल झिपाकर गुराना ही नहीं, प्रयुक्त दूसरे के अधिकार को वस्तु पर अदत्तस्वी रूपना अधिकार उमा लेना भी 'अदत्तादान' है ।

४. मैथुन=व्यभिचार सेवन करना । मोह दशा से विकल होकर स्त्री का पुरुष पर, या पुरुष का स्त्री पर आपत्त होना, वेद कर्मग्रन्थ शृंगार सम्बन्धी सेवटा करना, मानसिक, वाचिक और कायिक किसी भी काम विकार में प्रवृत्त होना 'मैथुन' है । कामवासना मनुष्य की मध्यमे बड़ी दुर्बलता है । हमारे कारण अच्छा से अच्छा मनुष्य भी, चाहे जैसा भी अदृश्य कार्य मद्यना कर दाक्षता है, आप्तभाव को भूष जाता है । एक प्रकार से मैथुन पानों का राजा है ।

५. परिग्रह—समतावृद्धि के कारण वस्तुओं का अनुचित समग्र करना या आवरयकता से अधिक समग्र करना परिग्रह है । वस्तु छोटी हो या बड़ा, अड़ हो या सेवन, चाहे जो भी हो उसमें आपत्त हो जाना, उसको प्राप्त करने की लगन से विवेक की सो बैठना 'परिग्रह' है । परिग्रहकी वास्तविक परिभाषा मूर्खता है । अनप्य वस्तु हो या न हो, वस्तु यदि लम्बावृद्धी मूर्खता हो तो वह सब परिग्रह ही माना जाता है ।

६. क्रोध—जिसा कारण से अपरा बिना कारण ही करने आप को तथा दूसरों को दुःख करना 'क्रोध' है । जब क्रोध होता है, तब अज्ञान वर कृष् भी दितादित नहीं मूमता है । क्रोध, कलह का मूल है ।

७. मान—दूसरों की मुखद तथा स्वयं को मदान समझना 'मान'

है। अभिमान की प्रकृति आवेश में आकर सभी-सभी ऐसे क्रमशः शत्रुओं का अयोग्य बर दालता है, जिसे सुनकर दूसरे को बहुत दुःख होता है, और दूसरे के हृदय में प्रति शत्रुता की भावना जागृत हो जाती है।

८. मान—अपने स्वार्थ के लिये दूसरों को दगले या धोखा देने की जो चेष्टा की जाती है, उसे माना कहते हैं। माना के कारण दूसरे शत्रुओं को बह में पड़ना पड़ता है, अतः माना भयंकर पाप है।

९. लोभ—हृदय में किसी भी भौतिक पदार्थ की अत्यधिक चाह रखने का नाम 'लोभ' है। लोभ ऐसा दुर्गुण है कि जिसके कारण सभी पदों का अत्यन्त विनाश जा सकता है। दसवें शताब्दी के मूल में लोभ, मान, माया से तो पूरे के सदगुरु का ही नाश कर लाया है, परन्तु लोभ को सभी सदगुरुओं का नाश करने वाला बन लाया है।

१०. राग—किसी भी पदार्थ के प्रति मोहकण—आकर्षक आकर्षण होने का नाम 'राग' है। अथवा पौद्गलिक सुख की अभिलाषा को भी राग कहते हैं। पा. तत्त्व में बड़े भी भौतिक वस्तु चाहती नहीं हैं, हम तो मात्र आत्मा हैं और आत्मादि सुख ही देखते रखते हैं। परन्तु जब हम किसी वस्तु वास्तु को चाहती और मात्र चाहती ही मान लेते हैं, तब उसके प्रति राग होता है। और जहाँ राग है, वहाँ सभी अर्थ संभव हैं।

११. द्वेष—अपनी प्रति के अनिष्टक वस्तु का सुख या कोई काम देकर जल उड़ाना, द्वेष है। द्वेष होने पर अत्यन्त घटा हो जाता है। अतः वह जिस पदार्थ का शत्रु को करने जिसे बुरा मानना है, अत्यन्त उसका नाश करने के लिये सैद्यक हो जाता है, अपने विचारों का अतिशय सतृप्तक को करता है।

१२. क्रोध—किसी भी अत्यन्त अत्यन्त के लिये पर बुरा का होने में सतृप्त करने का नाम 'क्रोध' है। क्रोध में अपनी आत्मा को भी परित्याग होता है, और दूसरे को भी। क्रोध करने वाला व्यक्ति, वहाँ भी अपने को ही परित्याग।

१३. अभ्याख्यान—किसी भी मनुष्य पर कल्पित कहाना लेकर मूढ़ा दोषारोपण करना, मिथ्या कथंक संगाना 'अभ्याख्यान' है।

१४. वैशुन्य—किसी मनुष्य के सम्बन्ध में गुणहीनता, 'वैशुन्य' की बात उधार संगाना, नारद बनना 'वैशुन्य' है।

१५. परपरिवाद—किसी की उन्नति न देख सकने के कारण उसकी मूढ़ी सत्त्वी निन्दा करना, उसे बदनाम करना 'परपरिवाद' है। परपरिवाद के मूढ़ में डाढ़ का विष भंडुर लुपा हुआ रहता है।

१६. रति श्रुति—अपने वास्तविक आत्म-स्वरूप को मूढ़ का अब मनुष्य परभाव में कैमता है, विषय भोगों में आभन्द मानता है, तब वह अनुकूल वस्तु की प्राप्ति से हर्ष तथा प्रतिकूल वस्तु की प्राप्ति से दुःख अनुभव करता है, इसका नाम 'रति श्रुति' है। रति श्रुति के वैशुन्य में कैसा रहने वाला व्यक्ति, बीतराम भावना से सर्वथा परा-मुक्त हो जाता है।

१७. माया मूढा—कपट सहित मूढ़ बोलना। अर्थात् इस तरह आजाकी से बातें करना या ऐसा साग छपेट का व्यवहार करना कि जो प्रकट में तो सत्य दिखलाई दे, परन्तु वास्तव में हो मूढ़। जिस सत्त्वाभास रूप असत्य को सुनकर दूसरा व्यक्ति सत्य मान ले, नाराज न हो, वह 'माया मूढा' है। आजकल जिते पॉलिस्ती कहते हैं, 'बड़ी शास्त्रीय परिभाषा में 'माया मूढा' है। यह पाप असत्य से भी भयंकर होता है। आज के युग में इस पाप ने इतने पाँव पसार दिए कि कुछ कह नहीं सकते।

१८. मिथ्या दर्शन शक्य—तत्त्व में अतत्त्व बुद्धि और अतत्त्व में तत्त्वबुद्धि रखना, जैसे कि देव को कुदेव और कुदेव को देव, गुरु को कुगुरु और कुगुरु को गुरु, धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म, जीव को जड़ और जड़ को जीव मानना 'मिथ्या दर्शन शक्य' है। मिथ्यात्व समस्त पापों का मूल है। आध्यात्मिक प्रगति के लिए मिथ्यात्व विष वृक्ष का उन्मूलन करना, अतीव आवश्यक है।

जब अठारह पापों का जलसेवक भास प्रभुत्व रहि गी बिना गण है ।
 प्रथम रहि गे सो पापों का घन हलना निबट प्रभुं साधन है, कि हलकी
 गणना ही नहीं हो सकती । अतः श्री गुरु गणेश सरंग, जो आध्यात्मिक
 न होकर निष्कर्षात्मक हो, उपनिषदी न होकर आध्यात्मिक हो, लोकोत्तर
 को हलका न समझकर दुर्भाग्यात्मा को भारी समझेगाही हो, यह सब
 ध्यान है । पाप हमारी आत्मा को दूषित करता है, रंदा करता है,
 कलमल करता है, अतः श्राव्य है ।

पापों का आध्यात्मिक से त्याग करने का यह भयलक नहीं कि-
 आध्यात्मिक से सो पाप करने नहीं, परन्तु आध्यात्मिक से आत्मा मुक्त रहकर
 से पाप करने का जो ज्ञेय । आध्यात्मिक से पाप भी पापों से कष्ट का प्रभु
 उत्पन्न करता आदिष्ट । आध्यात्मिक का कष्ट शक्ति नहीं है । यह सो प्रकृत
 के हल सेवक हो, हल काम से भास आत्मा ब्रह्मा आदिष्ट । उपनिषद के अति
 प्रकृत शक्ति का लक्षण, लक्षणी ही लक्षण की परिचयता । बिना भी
 हल से बिदेह का पद न भूयो ।

: १२ :

सामायिक के अधिकारी

साधना तभी कलबनी होती है, जबकि उसका अधिकारी योग्य हो। अनधिकारी के पास जाकर अच्छी-से-अच्छी साधना भी निरन्तर हो जाती है, वह अधिकारी तो क्या एक ईश भी आध्यात्मिक जीवन का विकास नहीं कर पाती।

आजकल सामायिक की साधना क्यों नहीं सफल हो रही है ? वह पहले सा तेज सामायिक में क्यों न रहा, जो वरुण सर में ही साधक को आध्यात्मिक सुमेरु के उत्पन्न शिखर पर पहुँचा देता था ? बात यह है कि—आज के अधिकारी योग्य नहीं रहे हैं। आजकल के बहुत से लोग तो वही समझे बैठे हैं कि 'हम संसार व्यवहार में भले ही चाहे जो करें; हिंसा, मृद, थोरी, दंभ, स्वमिचार आदि पाप कार्य का कितना ही क्यों न आचरण करें; परन्तु सामायिक करते ही सब-के-सब पाप भट्ट होजाते हैं और हम मटपट मोक्ष लोक के अधिकारी होजाते हैं। संसार का प्रत्येक व्यवहार पाप पूर्ण है, अतः यहाँ पाप किए बिना काम ही नहीं चल सकता।' उक्त धारणा वाले सज्जन केवल कृत पापों से छुटकारा पाने के लिए ही सामायिक करते हैं; किन्तु कभी भी पाप कार्यके त्याग की आवश्यक नहीं समझते। इस प्रकार के धर्मपूजारी भक्तों के लिए शानियों का कथन है कि जो लोग पाप कर्म का त्याग न करके सामायिक के द्वारा केवल पापकर्म के फल से बचना चाहते हैं, वे लोग वास्तव में सामायिक नहीं करते, किन्तु धर्म के नाम पर दंभ करते हैं।

[illegible][illegible]

सुमतिद ग्रन्थ पौदराक में धर्म मित्रि की पहचान बताते हुए बहुत ही ठीक कहा है.—

श्रीशायं दाक्षिण्यं,

पापमुगुन्नाथ निर्मलो बोधः ।

लिङ्गानि धर्महिन्दे:

मायेण जन-प्रियत्वं च ॥८,२॥

सामायिकसे पहले अच्छा आचरण बनाना—यह अपनी मतिकल्पना नहीं है, इसके ऊपर आगम प्रमाण का भी संरक्षण है। गृहस्थ धर्म के बारह व्रतों में धाय देख सकते हैं, सामायिक का मंत्र भी यही है। सामायिक से पहले के आठ व्रत माधक की सामायिक वासनियों के क्षेत्र को सीमित बनाने के लिए एवं सामायिक करने की योग्यता पैदा करने के लिए हैं। व्रतएव जो माधक सामायिक से पहले के अहिंसा आदि आठ व्रतों को मज्जी भौति स्वीकार करते हैं, उनकी सामायिक वासनियाँ सीमित हो जाती हैं और हृदय में आध्यात्मिक शान्ति के सुगन्धित पुष्प खिलने लगते हैं। यह ही नहीं, उन लोगों में बयावसर कर्तव्य और अकर्तव्य का सुमथुर विवेक भी जागृत हो जाता है। जो मनुष्य बूढ़े पर बड़ी हुई कड़ाई में के दूध को शान्त रखना चाहता है, उसके लिए यह आवश्यक होगा कि वह कड़ाई के नीचे से जलती हुई आग को अलग करदे। आग को तो अलग न करना, केवल ऊपर से दूध में पानी के छुँटि दे देकर उसे शान्त करना, किसी भी दशा में समझ नहीं। कुछ कपट, अभिमान, अप्याचार आदि दुर्गुणों की आग अब तक माधक के मन में जलती रहेगी, तब तक सामायिक के छुँटि किसी भी उसके अन्तर्हृदय में शान्ति नहीं आ सकेंगे। उक्त विवेचन खंका करने का हमारा अभिप्राय सामायिक के अधिकारी का स्वरूप ज्ञात था। अस्तु संक्षेप में पाठक समझ गए होंगे कि सामायिक के अधिकारी का क्या कुछ कर्तव्य है ? उसे समार व्यवहार में कितना सामायिक होना चाहिए ?

करता है, उसी प्रकार विरोधी के प्रति भी जो समभाव की सुगन्ध फैलाने करने रूप महापुरुषों की सामायिक है, वह मोक्ष का सर्वोत्कृष्ट साधन है, ऐसा सर्वज्ञ प्रभु ने कहा है ।'

सामायिक एक पाप रहित साधना है । इस साधना में जरा सा भी पाप का घंटा नहीं होता । पाप क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि सामायिक के काल में चित्तवृत्ति शांत रहती है, अतः नवीन कर्मों का बन्ध नहीं होता । सामायिक करते समय किसीका भी ध्यान चिन्तन नहीं किया जाता, प्रत्युत सब जीवों के भेषके लिए विरवकस्याय की भावना भाई जाती है; कलतः आत्म स्वभावमें रमण करते-करते साधक अप्पात्म-विकास की उच्च भेषियों पर चढ़ता हुआ आत्म-निरीक्षण करने लग जाता है, तब अशुद्ध व्यवहार, अशुद्ध उच्चार, अशुद्ध विचार के प्रति परमात्मा करता है, उनका त्याग करता है, अद्वारद पापों से अलग होकर आत्म आगुले के क्षेत्र में पवित्र प्यान के द्वारा कर्मों की निर्जरा करता है । उक्त वर्णन पर से सिद्ध होजाता है कि सामायिक कितनी पाप रहित पवित्र क्रिया है ! अतएव आचार्य हरिमद्गजी ने कहा है—

निरवयमिदं संप्र मेकान्तेनैव तत्वनः;

कुशलस्यरूपत्वात्सर्वं योग-विशुद्धेतः ।

२१ वां अष्टक

—'सामायिक कुशल=शुद्ध आत्मरूप है, इसमें मन, वचन और शरीर-रूप सब योगों की विशुद्धि हो जाती है; अतः परमार्थ दृष्टि से सामायिक एकान्त निरवयव=पाप रहित है ।'

एक और आचार्य कहते हैं:—

सामायिक विशुद्धात्मा सर्वथा वातिकर्मदः;

संयात्केवलमाप्नोति, लोकालोकप्रकाशकम् ।

—'सामायिक से विशुद्ध हुआ आत्मा ज्ञानावरण आदि वातिकर्मों का सर्वथा अर्थात् पूर्णरूप से नाश कर लोकालोक प्रकाशक केवल ज्ञान प्राप्त कर लेता है ।'

सामाज्यमि उ कए,

समणो इव मावणो इव अभा ।

एणु कारणेणं,

बहुतो सामाज्यं कुम्भा ॥८०॥

—'सामाजिक बात भली भाँति ग्रहण कर लेने पर भाषक भी साधु जैसा ही जाता है, आध्यात्मिक वचन देना को पहुँच जाता है, अर्थात् भाषक का कर्तव्य है कि वह अधिक से अधिक सामाजिक करे ।'

सामाज्य-वच-बुद्धो,

आन मणो होर नियममं बुद्धो ।

सिद्धि अमुदं कामं,

सामाज्य अतिथा वारा ॥

—'जबकि मन को निर्वन्धन में रखते हुए जब तक सामाजिक बात की सम्प्राप्ति द्वारा चालू रहती है, तब तक अमुक्त कर्म बराबर ही चलते रहते हैं ।'

चाहते सामाजिक का महत्त्व अच्छी तरह समझ गए होंगे । सामाजिक का उद्देश्य में जाना बड़ा ही कठिन है, परन्तु जब वह उद्देश्य में आ जाता है, तब फिर वेदा वार है । आचार्यों का कहना है कि—देवता भी अपने उद्देश्य में सामाजिक मन स्वीकार करने की तीव्र अभिलाषा रखते हैं और मानना माने हैं कि—'यदि एक सुदूर भ्रम के लिए भी सामाजिक मन प्राप्त हो सके तो वह मेरा देव अग्न्य सचक हो जाय ।' किन्तु है कि देवता मानना माने हुए भी सामाजिक मन प्राप्त नहीं कर सकते । वास्तविक मोह के उद्देश्य के कारण संपन्न का वचन न कभी देवताओं से आनाथा है, और न आना सक्ते । जैन शास्त्र की दृष्टि से देवताओं की मानेवा मानव अधिक आध्यात्मिक मानना का प्रतिनिधि है । अतएव सामाजिक वचन करने का वेद देवताओं को न सिद्धकर मनुष्यों की सिद्धा है । अतः आज मानव अधिकार का उद्देश्य कीर्ति, हमारे काम कीर्ति सामाजिक की अज्ञातता कीर्ति ! भीतिक दृष्टि से देवताओं

१. कृषिदा, निमज्जी ही कापणी को, एतन्तु काप्यापिअह्म कृषिदा हे मं
 काप्य ही निमज्जी को हे निमज्जीहि हे । एता काप्या कापणे कृषा कृषाण कृषि-
 काप्य को ही ही कप्या को हे, काप्यापिअह्म को काप्यापिअह्म कृषा कृषाण
 कृषाण काप्यापिअह्म कृषा कृषाण कृषा कृषाण कृषा कृषाण कृषा कृषाण कृषा कृषाण

आर्त और रीढ़ ध्यान का त्याग

सामाजिक में समभाव को उपायता की जानी है। समभाव का अर्थ राग द्वेष का परिणाम है। सामाजिक शब्द का विवेचन करते हुए कहा है कि—“सामाज्ये नाम सात्वज्जीव्यपरधाम । नरपञ्चयोग-१.३-मार्गः च” —आ० १ अ० । सामाजिक का अर्थ है ‘भाव्य अर्थात् वाग जनक कर्मों का त्याग करना और निरवय अर्थात् वागद्विज कर्मों का स्वीकार करना ।’ वागजनक ही ही ध्यान शास्त्रकारों ने कहा है— आर्त और रीढ़ । अतएव सामाजिक का अर्थवाचक करते हुए कहा भी है कि—

समता स्थैर्यमूतम् । सवम शून्य-भावना ।

आर्त रीढ़ परिणाम स्तः । सामाजिक मतम् ॥

अर्थ—बुद्धि बल सब जीवों पर समभाव रखना, पूर्ण इन्द्रियों को जगत् वस्तु में रखना, हृदय में शुद्ध और भेद भ्रम रहना, आर्त तथा रीढ़ दूर करना का त्याग रखना । सामाजिक मत है ।”

इस अर्थ में आर्त तथा रीढ़ दुःखों का परिणाम । सामाजिक का अर्थ अर्थवाचक होता है । जब तक साधक के मन पर ये आर्त और रीढ़ ध्यान के दुर्गन्ध नहीं रहते हैं, जब तक सामाजिक का अर्थ अर्थवाचक नहीं रहता किता । आ लक्षणा ।

आर्त रीढ़ १ वर ३२१ —

‘आर्त’ शब्द अर्थात् अर्थ का अर्थवाचक होता है । अर्थात् का अर्थ है—

आदरों को मूल कर केवल भविष्य के ही सुन्दरी स्वप्न देखते रहते हैं। घंटों के घंटों उनके इन्हीं विचारों में बीत जाते हैं कि : किय प्रकाश लक्ष्मणी बनूँ ? सुन्दर महल, बाग आदि कैसे बनाऊँ ? समाज में पूज्य प्रतिष्ठा किस तरह प्राप्त करूँ ? उचित अनुचित का कुछ भी विचार किए बिना विलासी जीव हर प्रकार से अपना स्वार्थ गाँठना चाहते हैं।

रौद्र ध्यान के चार प्रकारः—

‘रौद्र’ शब्द रुद्र से उत्पन्न हुआ है। रुद्र का अर्थ है क्रूर, भयंकर जो मनुष्य क्रूर होते हैं, जिनका हृदय कठोर होना है, वे बड़े ही भयंकर एवं क्रूर विचार करते हैं। उनके हृदय में हमेशा द्वेष की ज्वाला भड़कती रहती है। उक्त रौद्र ध्यान के शास्त्रकारों ने चार प्रकार बतलाए हैंः—

(१) हिंसानन्दः—अपने से दुर्बल जीवों को मारने में, पीड़ा देने में, हानि पहुँचाने में आनन्द अनुभव करना, हिंसानन्द दुष्पूर्ण है। इस प्रकार के मनुष्य बड़े ही क्रूर होते हैं, दूसरों को रोते देखकर इनका हृदय बड़ा ही सुख होता है। ऐसे लोग स्वयं ही हिंसा-कार्यों का समर्थन करते हैं।

(२) मूषानन्दः—कुछ लोग अत्यन्त मायस में बड़ी ही अभिरुचि रखते हैं। इधर-उधर मटर गसती करना, मूठ खोजना, दूसरे भाइयों को सुलावे में डाल कर अपनी चतुरता पर सुख होना, हर समय अत्यन्त व्यस्त रहना, सत्य धर्म की निन्दा और अत्यन्त आचरण की प्रशंसा करना, मूषानन्द दुष्पूर्ण में सम्मिश्रित है।

(३) चौरानन्दः—बहुत से लोगों को हर समय चोरी छुपी कमाई होनी है। वे जब कभी सगे सम्बन्धी के या मित्रों के यहाँ जाते जाते हैं, तब वहाँ कोई भी सुन्दर चीज देखते ही उनके मुँह में पान बन जाता है। वे उसी समय उसके उठाने के विचार में लग जाते हैं। इसी कारण मनुष्य इस दुर्विचार के कारण अपने महान् जीवन को कलंकित

कर डालते हैं। रात दिन चोरी के संस्कार किकल्यों में ही अपना अमूल्य समय बर्बाद करते रहते हैं।

(४) परिग्रहानन्द—प्रातः परिग्रह के संस्कार में और अमास के प्रातः करने में मनुष्य के समस्त पढ़ी ही जटिल समस्याएँ आती हैं। जो लोग सत्पुरुष होते हैं, वे तो बिना किसी को कष्ट पहुँचाए अपनी बुद्धि से समस्याएँ सुलझा लेते हैं; किंतु दुर्जन लोग परिग्रह के लिए इतने मूर्ख हो जाते हैं कि वे भले-बुरे का कुछ विचार नहीं करते, दिन-रात अपनी स्वार्थ-साधना में ही लीन रहते हैं। हमेशा रौद्र रूप धारण किए रहना, अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए मूर्ख से मूर्ख उपाय सोचते रहना, परिग्रहानन्द रौद्र ध्यान है।

यह छातं और रौद्र ध्यान का संक्षिप्त परिचय है। छातं ध्यान के लक्षण रंका, भय, शोक, प्रमाद, कलह, चित्त भ्रम, मन की चंचलता, विषय भोग की इच्छा, उद्भ्रान्ति आदि हैं। अत्यधिक छातं ध्यान के कारण मनुष्य जड़, मूढ़ एवं मूर्खित भी हो जाता है। छातं ध्यान का फल अनन्त दुःखों से आवुल व्याकुल पशुगति प्राप्त करना है। उधर रौद्र ध्यान भी कुछ यन्त्र भगंकर नहीं है। रौद्र ध्यान के कारण मनुष्य को मूर्खता, दुष्टता, बटोरता, घंघड़ा, निर्दयता आदि दुर्गुण चारों ओर से घेर लेते हैं; और यह सदैव लाल छातों किए, भौंह चड़ाए, भयानक आहृति बनाए राक्षस जैसा रूप धारण कर लेता है। अत्यधिक रौद्र ध्यान का फल गरक गति होता है।

सामायिक का प्राप्त सम्भाव है, समझा है। अतः साधक का कार्य है कि वह अपनी साधना को छातं और रौद्र ध्यानों से बचाने का प्रयत्न करे। कोई भी विद्यार्थील देर सबला है कि उपयुक्त छातं और रौद्र विषयों के रहने हुए सामायिक की विमुक्ति वहाँ तक रह सकती है।

: १६ :

शुभ-भावना

मानव जीवन में भावना का बड़ा भारी महत्व है। मनुष्य अपनी भावनाओं से ही बनता विगड़ता है। हजारों लोग दुर्भावनाओं के कारण मनुष्य के शरीर को पाकर शवस बन जाते हैं, और हजारों पवित्र विचारों के कारण देवों से भी ऊँची भूमिका को प्राप्त कर लेते हैं एवं देवों के भी पूज्य बन जाते हैं। मनुष्य धृष्टा का, विश्वास का, भावना का बना हुआ है; जो जैसा सोचना है, विचारता है, भावना करता है, वह वैसा ही बन जाता है। भद्रामदेय पुरुषः यो यच्छुद्धः स एव सः' —गीता। 'वाटशी भावना यस्य निद्धिर्मवति ताटशी।

सामायिक एक पवित्र मत है। दिनरात का चक्र चोढ़ी संकल्प-विकल्पों में, ऊपर उपर की उधेड़ लुन में निकल जाता है। मनुष्य को सामायिक करते समय दो घड़ी ही शान्ति के लिए मिलती हैं। यदि इन दो घड़ियों में भी मन को शान्त न कर सका, पवित्र न बना सका तो फिर वह कब पवित्रता की उपपन्ना करेगा! अतएव प्रत्येक जैनाचार्य सामायिक में शुभ भावना माने के लिए आज्ञा प्रदान कर-गए हैं। पवित्र संकल्पों का बल चन्तरागमा को महान् आध्यात्मिक शक्ति, एवं विशुद्धि प्रदान करता है। आत्मा से परमात्मा के, नर से नारायण के पर पर पहुँचने का, वह विशुद्ध विचार ही स्वर्ण सोपान है।

सामायिक में विचारना चाहिए कि—'मेरा वास्तविक हित एवं कल्याण, आत्मिक सुख शान्ति के पाने एवं चन्तरागमा को विशुद्ध बनाने

नहीं हो। इन्द्रियों के भोगों से भरी मनस्तृप्ति कदापि नहीं हो सकती। सामाजिक के रूप पर अग्रतर होने वाले साधक को सुखको मात्राओं मिलने पर हर्षोन्नत नहीं होता चाहिए और दुःख को सामग्री मिलने पर व्याकुल नहीं होता चाहिए, घबड़ाना नहीं चाहिए। सामाजिक का सर्वोच्च साधक सुख दुःख दोनों को समभाव से भोगता है, दोनों को धूल तथा धाँसा के समान बरतनेवाला भावता है।

सामाजिक को साधना हृदय को विराट बनाने के लिए भी है। अतएव जब तक साधक का हृदय विरव प्रेन से परिष्ठावित नहीं हो जाता, जब तक साधना का सुन्दर रंग दिखर ही नहीं पाता। हमारे भावों काचनों ने सामाजिक के समभाव को परितुष्टि के लिए चार भावनाओं का वर्णन किया है—मैत्री, प्रभेद, करुण, नान्यस्य।

सखेयु मैत्री सुरिणु प्रभेदः,

मिलयेयु जीवेयु करुणजनः।

नान्यस्यैव विमलैव वृत्तौ,

मह नान्य विरधु देव।

—आचार्य कलिदास, सामाजिकरत्न

(१) मैत्री भावना—संसार के समस्त प्राणियों के प्रति निस्वार्थ प्रेमभाव रखना; अपने ज्ञाना के समान ही सबको सुख दुःख को अनुभूति करनेवाले समभाव, मैत्री भावना है। जिस प्रकार मनुष्य अपने किसी विनिष्ट मित्र को हमेशा भलाचला चाहता है, वही एक करने से हो सकता है सब पर भलाचला है, दूसरों से उनके लिये भलाचला करने की इच्छा रखता है, उसी प्रकार जिस साधक का हृदय मैत्री भावना से परितुष्ट हो जाता है वह भी अन्योन्य की भलाचला करने के लिए बहुत उत्सुक रहता है, सबको करनेवाला की छवि से देखता है। वह किसी को भी किसी को तरह का कष्ट नहीं देना चाहता। उनकी आदर्श भावना रही रहती है कि—“जिसका बहुत लोभने लोभने लोभने” करने “मैं सब प्राणियों को मित्र की भाँति से देखता हूँ।

मेरा किसी से भी विरोध नहीं है,

(२) प्रमोद भावना—गुणवान्

देखकर प्रेम से गद्गद् हो जाना, मनमें प्रसन्न हो जाना, प्रमोद भावना है। कई बार ऐसा होता है कि मनुष्य अपने से धन सम्पत्ति, सुख वैभव, विद्या, बुद्धि अथवा धार्मिक भावना आदि में अधिक बड़े हुए उन्नतिशील साथी को देखकर ईर्ष्या करने लगता है। यह मनोवृत्ति बड़ी ही दूषित है। जब तक इस मनोवृत्ति का नाश न हो जाय, जब तक अहिंसा सत्य आदि कोई भी सद्गुण अमरराम्या में ठिक नहीं सकता। इसीलिए भगवान् महावीर ने ईर्ष्या के विरुद्ध प्रमोद भावना का मोर्चा लगाया है।

इस भावना का यह अर्थ नहीं कि आप दूसरों को उन्नत देखकर किसी प्रकार का आदर्श ही न ग्रहण करें, उन्नति के लिए प्रयत्न ही न करें, और सदा दीन हीन ही बने रहें। दूसरों के अभ्युदय को देखकर यदि अपने को भी वैसा ही अभ्युदय इष्ट हो तो उसके लिए न्याय नीति के साथ प्रयत्न पुरुषार्थ करना चाहिये, उनको आदर्श बनाकर स्वयं से कर्म पथ पर अग्रसर होना चाहिए। शास्त्रकार तो यहाँ दुर्बल मनुष्यों के हृदय में दूसरों के अभ्युदय को देखकर जो राह होता है, केवल उसे दूर करने का आदेश देते हैं।

मनुष्य का कर्तव्य है कि वह सदैव दूसरों के गुणों की ओर ही अपनी दृष्टि रखे, दोषों की ओर नहीं। गुणों की ओर दृष्टि रखने से गुण प्राप्ति के भाव उत्पन्न होते हैं, और दोषों की ओर दृष्टि रखने से अन्तःकरण पर दोष ही दोष छा जाते हैं। मनुष्य जैसा चिन्तन करता है, वैसा ही बन जाता है। अतः प्रमोद भावना के द्वारा प्राचीन काळ के महापुरुषों के उल्लेख पूर्व पवित्र गुणों का चिन्तन हमेशा करते रहना चाहिए। मात्र सुकुमार मुनि की जमा, धर्मरक्षि मुनि की दया, भगवान् महावीर का वैराग्य, शास्त्रिभद्र का दान किसी भी साधक को विशास्त्र धार्मिक शक्ति प्रदान करने के लिए पर्याप्त है।

(३) करला भावना:—किसी दीन दुखी को पीड़ा पाते हुए देख-
कर दया में मग्ना हो जाता, उसे कुछ शान्ति पहुँचाने के लिए दया-
शक्ति प्रदान करता, अपने दिल में दिल स्पर्श का बलिदान देकर भी
उसका दुःख दूर करना, करला भावना है। अहिंसा की पुष्टि के लिए
करला भावना अतीव आवश्यक है। बिना करला के अहिंसा का
सन्निध्य कल्पन में ही हो सकता। यदि कोई बिना करला के अहिंसक
होने का दावा करता है तो मम्म लो यह अहिंसा का उपहास करता
है। करलाहीन मनुष्य, मनुष्य नहीं, पशु होता है। दुखी को देखकर
जिसका हृदय नहीं पिघला, जिसकी आँखों में आँसुओं की धारा नहीं
बही, वह किस भरोसे पर अपने को धर्मात्मा समझता है ?

(४) न्यायस्य भावना:—जो अपने में समझता हो, विद्वत् हो,
उस पर भी क्रोध न करना, उदासीन धर्मात्मा तत्स्य भाव रखना; न्यायस्य
भावना है। कभी-कभी ऐसा होता है कि साधक को बिल्कुल ही
संस्कारहीन एवं धर्म-रिक्ता मानकर करने के सर्वथा अयोग्य पुरु, ब्रू,
निन्दक, दिग्भ्रमवादी, निर्द्वेष, स्वनिन्दारी तथा एक स्वभाव भाव वाले
मनुष्य मिल जाते हैं, और पहले पहल साधक बड़े उन्माद और हृदय में
उनको सुधारने का, धर्म पर पर लाने का प्रयत्न करता है, परन्तु जब
उनके सुधारने के सभी प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं, तो मनुष्य महत्मा
उद्भिन्न हो उठता है, क्रुद्ध हो जाता है, विपरीतपक्ष वालों को अपराध
तक कहने लगता है। भगवान् महावीर मनुष्य की इसी दुर्बलता को
ध्यान में रखकर न्यायस्य भावना का उपदेश करते हैं कि संसार भर
को सुधारने का बेवज्र दवेजे हमने ही देखा नहीं ले रखा है। इन्दिह
बालो करने करते संस्कारों के यत्न में है। जब तक अन्ध-मूर्खता का
परिणाम नहीं होता है, मनुष्य संस्कार दीप्त होकर शुद्ध सम्झन उत्पन्न
नहीं होता है, तब तक कोई सुधार नहीं सकता। हमारा काम तो हम
प्रयत्न करना है। सुधारना और न सुधारना, वह तो हमको विधि पर
है। प्रयत्न बन्द करने, कभी तो अपना परिश्रम करना हो।

विरोधी और दुश्चरित्र व्यक्ति को देखकर पृथ्वा भी नहीं करनी चाहिए। ऐसी स्थिति में माध्यस्थ्य भावना के द्वारा समभाव रखना, तटस्थ हो जाना ही श्रेयस्कर है। प्रभु महावीर को संगम आदि देवों ने कितने भयंकर कष्ट दिए, कितनी मर्मान्तक पीड़ा पहुँचाई; किन्तु भगवान की माध्यस्थ्य वृत्ति पूर्ण रूप से अचल रही। उनके उद्देश में विरोधियों के प्रति जरा भी खोभ एवं क्रोध नहीं हुआ। वर्तमान युग के संघर्षमय वातावरण में माध्यस्थ्य भावना की बड़ी भारी आवश्यकता है।

साथ दिया तो महज भी कौन सी बड़ी चीज है, वह भी मिल सकता है ! परन्तु महज के अभाव में झोपड़ी छोड़कर सबक पर भिखारियों की तरह छोटना तो ठीक नहीं । अपने आप में व्यवहार सामायिक भी एक बहुत बड़ी साधना है । जो लोग सामायिक न करके स्वयं ही इधर-उधर निन्दा जुगली, झूठ, हिंसा, खबाई आदि करते मिलते हैं, उन की अवेजा निश्चय सामायिक का न सही, व्यवहार सामायिक का ही जीवन देखिये, कितना उँचा है, कितना महान है ! स्पृष्ट पापाचारों से तो जीवन बचा हुआ है ।

न करेमि, नकारवेमि, करंतंमि=न करूँगा, न कराऊँगा, करने वाले
 अन्नं न समरुज्जायेमि=दूसरे का अनुमोदन भी नहीं करूँगा,
 तत्स भंते= हे भगवन् ! उस पाप व्यापार से दूटा है
 पडिक्कमामिनिन्दामि, गरिहमि=निन्दा करता हूँ गर्हा=धिकार करता हूँ।
 अप्पायं बोसरामि= पापमय आत्मा को बोसराता हूँ।

भावक और भाविका की सामायिक

भावक और भाविकाओं के सामायिक का पाठ भी यही है। केवल
 'सर्वं सावज्ज' के स्थान में 'सावज्जं', 'जावज्जीवाए' के स्थान में
 'जावनिममं', 'तिविहं तिविदेयं' के स्थान में 'जुविहं तिविदेयं' बोला
 जाता है। और 'करंतंमि अन्नं न समरुज्जायेमि' यह पद निरुद्ध ही
 नहीं बोला जाता।

पाठक समझ गए होंगे कि साधू और भावकों के सामायिक वच में
 कितना अन्तर है ? आदर्श एक ही है, किन्तु गृहस्थ परिग्रह भारी है,
 अतः वह तीन करण तीन योग से पापों का सर्वथा परित्याग नहीं कर
 सकता। वह सामायिक काष्ठ में मन वचन और शरीर से पाप कर्म न
 स्वयं करेगा, न दूसरों से करवाएगा। परन्तु घर या दूकान आदि पर
 होने वाले पापारंभ के प्रति गृहस्थ का ममत्कारूप अनुमोदन चाखू रहता
 है; अतः अनुमोदन का त्याग नहीं किया जा सकता। साधू अपने
 जीवन के पीछे कोई भी पाप व्यापार नहीं रखता, अतः वह अनुमोदन
 का भी त्याग करता है। गृहस्थ पापारंभ से सदा के लिए अलग होकर
 गृह जीवन को भौका नहीं ले सकता। वह सामायिक से पहले भी
 आरंभ करता रहता है और सामायिक के बाद भी उसे करता है; अतः
 वह दो ढंगों के लिए ही सामायिक ग्रहण कर सकता है, यावज्जीवन
 के लिए नहीं। आवश्यक निरुक्ति की अपनी टीका में आचार्य हरिभद्र
 ने विशेष स्पष्टीकरण किया है, अतः विशेष जिज्ञासु उसे पढ़ने का
 कष्ट उठाएँ।

साधु की अनेक गृहस्थ की सामाधिक में काफी अन्तर है, फिर भी इतना नहीं है कि सर्वथा ही अलग भाग हो। दो पक्षों के लिए सामाधिक में यदि पूर्ण साधु नहीं तो, साधु जैसा अवश्य ही हो जाता है। उच्च जीवन के अन्वय के लिए, गृहस्थ, प्रतिदिन सामाधिक ग्रहण करता है और इतनी देर के लिए वह संसार के धरातल से ऊपर उठ कर उच्च आध्यात्मिक भूमिका पर पहुँच जाता है। अतः आचार्य जिनभद्र गयीयना धर्मसूत्र ने विशेषावश्यक भाष्य में ठीक ही कहा है:—

समाधिरात्मन कए समन्तो हर धारजो हरर जरा,

एएए जारोएए एहुमी समादये कुआ, —१५६०

—सामाधिक करने पर भावक साधु जैसा हो जाता है, वास्तविकता से जीवन को बहुत कुछ अलग कर लेता है, अतएव भावक का कर्तव्य है कि वह प्रतिदिन सामाधिक ग्रहण करे, समस्त भाव का आधरस करे।

: १६ :

छः आवश्यक

जैन धर्म की धार्मिक क्रियाओं में छः आवश्यक मुख्य भावे गये हैं। आवश्यक का अर्थ है—प्रतिदिन आवश्यक करने योग्य धार्मिक अनुष्ठान। वे छः आवश्यक इस प्रकार हैं—
 १ सामायिक = समभाव, २ चतुर्विंशतिस्तव = भगवान् की स्तुति,
 ३ वन्दन = गुरुदेव को नमस्कार, ४ प्रतिक्रमण=पापचार, ५ इत्या, कापोत्सर्ग=शरीर का ममत्व त्याग कर ध्यान करना, ६ प्रत्याख्यान= पाप कार्यों का त्याग करना।

उक्त आवश्यकों का पूर्ण रूप से आचरण तो प्रतिक्रमण करते समय किया जाता है। किंतु सर्वप्रथम जो यह सामायिक आवश्यक है, इसमें भी आगे के पांच आवश्यकों की भांति मिल जाती है।

करेमि सामाख्य में सामायिक आवश्यक का, भंते में चतुर्विंशतिस्तव का, तस्म भंते में गुरुवन्दन का, पडिक्कमामि में प्रतिक्रमण का, अयाण वोखिरामि में कापोत्सर्ग का, सावज्ज जोगं पन्वक्खामि में प्रत्याख्यान आवश्यक का समावेश हो जाता है। अतएव सामायिक करने वाले महानुभाव, जरा गहरे आत्म-निरीक्षण में डूबें तो वे सामायिक के द्वारा भी वही आवश्यकों का आचरण करते हुए अपना आत्मकल्याण कर सकते हैं।

सामायिक कर बननी चाहिए ?

काज कर सामायिक के काज के सम्बन्ध में बड़ी ही अव्यवस्था है। कोई प्रातः काज करता है तो कोई सायंकाल। कोई दुपहर को करता है तो कोई रात को। मतलब यह है कि भगनाली कल्पना से जो जब चाहता है तभी कर जेता है, समय की पाबंदी की कोई सदाज नहीं रहता जाता।

अपने आपको आन्तिकाती सुधारक कहनेवाले तर्क करते हैं कि इससे क्या ? यह तो धर्म किया है, जब जा जाता, तभी कर दिया। काज के संबंध में पहले से क्या लाभ ?" मुझे इस मुर्तक पर बड़ी ही दुःख होता है। भगवान महावीर ने स्थावस्वाव पर काज का विधानितता पर बज दिया है। प्रति कर्मज जैसा धार्मिक कियाओं के जिए भी अस्तमय के कारण प्राचरिष्ठ तक का विधान किया है। सुभो के स्वाध्याय के जिए कबो समय का उपाज रहता जाता है ? धार्मिक कियाए तो मनुष्य को और अधिक विधित्त करती हैं, अतः इसके जिए तो समय का पाबंद होना अतीव आवश्यक है।

समय की विधितता का जब पर बड़ा कर्म-कर्मो बनाव होता है। उम्हूदुब नरको छोटी अव्यवस्थित दोह हमले कर और का अधिक चपल हो जाता है। ऐसी को हीरॉय समय पर हो जाता है। अव्यवस्था के जिए किया करीयो ने समय विधित्त होता है। विविध धार्मिक दायर जोहूदुब नर जाई का समय का ठीक विस्थित रहता है। धार्मिक क्या,

साधारण व्यक्तियों तक की नियमितता का भी मन पर बड़ा प्रभाव होता है। समाख् आदि दुर्म्यसन करने वाले मनुष्य, नियत समय पर ही दुर्म्यसनों का संकल्प करते हैं। अफीम खाने वाले व्यक्ति को ठीक नियत समय पर अफीम की याद आ जाती है, और यदि उस समय न मिले तो वह विवश हो जाता है। इसी प्रकार सदाचार के कर्तव्य की अपने लिए समय के नियम की अपेक्षा रखते हैं। साधक के लिए समय का इतना अभ्यस्त हो जाना चाहिये कि वह नियत समय पर सब कार्य छोड़ कर सर्व प्रथम आवश्यक धर्म क्रिया करे। यह भी स्वाधार्मिक जीवन है कि आज प्रातःकाल तो कल दुपहर को, परले रिब सायंकाल तो उससे अगले-दिन किसी और ही समय। आजकल यह अनियमितता बहुत ही बढ़ रही है। इससे न धर्म के समय धर्म ही होता है और न कर्म के समय कर्म ही।

प्रश्न किया जा सकता है कि फिर कौन से काल का निरचय करना चाहिये? उत्तर में कहना है कि सामायिक के लिए प्रातः और सायंकाल का समय बहुत ही सुन्दर है। प्रकृति के लीलाचेष्ट संसार में वस्तुतः इधर सूर्योदय का और उधर सूर्यास्त का समय, बड़ा ही सुरम्य एवं मनोहर होता है। संभव है नगर की गलियों में रहने वाले आप लोग दुर्भाग्य से प्रकृति के इस विजयजय हरय के दर्शन से वंचित हों, परन्तु यदि कभी आपको नदियों के सुरम्य तटों पर, पहाड़ों की ऊँची चोटियों पर, या बीहड़ बनों में रहने का प्रसंग हुआ हो और वहाँ दोनों सम्प्राप्ति के सुन्दर हरय छाँवों की नज़र पड़े हो तो मैं निरचय से कहता हूँ कि आप उस समय आनन्द विभोर हुए बिना न रहे होंगे। ऐसे प्रसंगों पर किसी भी दर्शक का आधुनिक अन्तःकरण उदात्त और गंभीर विचारों से परिपूर्ण हुये बिना नहीं रह सकता। खेलकूद को शिमड़ा यात्रा के वे सुन्दर एवं सुमनोहर प्रभाव और सायंकाल के हरय अब भी भूलें नहीं हैं। जब कभी स्मृति आती है, इदय आनन्द से गुरुगुहने लगता है।

हा प्रभात का समय तो भ्रान्त चिन्तन आदि के लिए बहुत ही सुन्दर माना गया है। सुनहरा प्रभात एकान्त, शान्ति और प्रसन्नता आदि की दृष्टि से परमशुभः प्रकृति का ज्येष्ठ रूप है। इस समय हिता और श्रुता नहीं होती, दूसरे मनुष्यों के साथ सम्पर्क न होने के कारण अस्तव्य पूर्व बहुत भाषण का भी अवसर नहीं आता, और जोरी से निवृत्त हो जाते हैं, कामी दुष्ट काम वासना से निवृत्ति पा लेते हैं। अस्तु, हिता, अस्तव्य, श्रेय और मक्षधर्म आदि के बुराबि पूर्ण रूपों के न रहने से मान दास का वायु मरुद्वज अद्भुत विचारों से स्वयं ही प्रवृत्त रहता है। इस प्रकार सामायिक की पवित्र क्रिया के लिए यह समय बड़ा ही पुनीत है। यदि प्रभातकाळ में न हो सके तो सायंकाल का समय भी दूसरे समयों का अपेक्षा शान्त माना गया है।

पूर्व और उत्तर ही क्यों ?

सामायिक करने वाले को आपना मुख पूर्व आपका उत्तर दिया की ओर रखना भेद माना गया है। त्रिभङ्ग मण्डी जमा धमण, विशेषतः शेषक भाष्य में लिखते हैं कि पञ्चामिमुहो उत्तरमुहो य इत्थमादिसं १६०६-१६०७। शास्त्रभाष्याय, प्रतिपक्ष, और दीक्षा दान आदि धर्मक्रियाएं पूर्व और उत्तर दिया की ओर ही करने का विधान है। स्थानांग मूल में भगवान महावीर ने भी इन्हीं दो दिशाओं का महत्त्व वर्णन किया है। अतः यदि गुरुद्वय विद्यमान हो तो उनके सम्मुख बैठना ठीक सम्यक् किसी दिशा में भी मुख किया जा सकता है, अन्यथा सम्यक् व्यवहार ना पूर्व और उत्तर की गर्ह मुख रखना ही निषिद्ध है।

अब कभी पूर्व और उत्तर दिशा का विचार बंद करना दे जायम किया जाता है कि पूर्व और उत्तर दिशा में ही गुना क्या महत्व है, जो कि अन्य दिशाओं को छोड़ कर इनही और ही मुक्त किया जाय ? उत्तर में कहना है कि सामान्यतया ही सबसे बड़ा प्रमाण है । कभी कि कानापी न हम क वैज्ञानिक महत्त्व का है किन्तु प्रकृति नहीं काना । ही काना-काना वैज्ञानिक विद्वान् मानव प्रकृति ही न हम सामान्य में प्रकृति है और वह काना विचारकोय है ।

आर्य समाज—आज कल का, ईश्वर का, सत्य का ये ही आर्य समाज—आर्य समाज का ही आर्य समाज है, जिसमें ईश्वर का ही आर्य समाज है।

: २२ :

पूर्व और उत्तर ही क्यों ?

साक्षाद्विक करन वाले को अपनी मूल पूर्व पक्ष या उत्तर दिशा की ओर रखना बहुत माना गया है। त्रिकभद्र गयी जमा धर्म, विशेष करके साध्य में लिखन है कि पश्चात्तु उत्तरपुरो व पश्चात्तु पूर्व दिशा में ३६००। साध्यतु, साध्य प्रतिक्रमण, और द्वाका द्वाका आदि बर्तिकाया पूर्व और उत्तर दिशा की ओर ही करने का विधान है। अनागत मूल में अगवान महावाह ने भी इसी ही दिशाओं में अद्वय बर्तन किया है। अतः यदि गुरुदेव विद्यमान हों तो उनके सम्मुख बैठन हुए धर्म किया दिशा में भी मूल किया जा सकता है, तन्म धर्म अथवा वर तो पूर्व और उत्तर की तरफ मूल रखना ही सम्भव है।

अब हमी पूर्व और उत्तर दिशा का विचार यह पक्ष है तो करने क्या जाना है कि पूर्व और उत्तर दिशा में ही क्या क्या महत्व है, तो कि अन्य दिशाओं की ओर अतः इनकी ओर ही मूल किया जाय ? उत्तर व कहना है कि साध्यतु अथवा ही महत्व क्या प्रमाण है। अभी तक धर्मार्थी ने इस के वैज्ञानिक महत्वपर कोई विचार प्रकट नहीं किया है। हाँ अभी अभी वैज्ञानिक विचार मानव इतर ही न हुए सम्भव में कुछ लिखा है अतः यह कष्टी विचारमान है।

अतः साध्य—अतः कहना सम्भव है कि साध्यतु में ही साध्यतु वर प्रमाण—पूर्वक साध्य वर का मूल अथ है, त्रिकभद्र पूर्वदिशात्मक

यह जीता-जागता चञ्चला-फिरता ईश्वर है। उसकी 'अलौकिक शक्तियाँ' सोई पड़ी हैं, जिस दिन वे जागृत होंगी, संसार में मंगल ही मंगल नजर आयेगा। पूर्व दिशा हमें संकेत करती है कि मनुष्य अपने पुरुषार्थ के बल पर अपनी इच्छा के अनुसार अमृत्युदय प्राप्त कर सकता है। वह सदा पवित्र और होन कृपा में रहने के लिए नहीं है, प्रत्युत पवन से उत्थान की ओर अग्रसर होना, उसका जन्मसिद्ध अधिकार है।

उत्तर दिशा=उर्ध्व अर्थात् उच्चता से तर=अधिक जो भाव-होता है। यह उत्तर दिशा से ध्वनित होता है। हाँ जो उत्तर का अर्थ ऊँचा-ऊँची गति, ऊँचा जीवन, ऊँचा आदर्श पाने का संकेत। मनुष्य का हृदय भी यहाँ बगल की ओर है, यह ऊपर है। मानव शरीर में हृदय का स्थान बहुत ऊँचा माना गया है। यह एक प्रकार से आत्मा का केन्द्र ही है। जिसका हृदय जैसा ऊँच-नीच अथवा शुद्ध-अशुद्ध होता है वह वैसा ही बन जाता है। मनुष्य के पास जो भक्ति, भय, विरक्त और पवित्र भावना का भाग है, वह अलौकिक शक्ति से उत्तर दिशा में हृदय में ही है। अस्तु उत्तर दिशा हमें संकेत करती है कि हम हृदय को विद्याल, उदार, उच्च एवं पवित्र बनाएँ।

उत्तर दिशा का दूसरा नाम ध्रुव दिशा भी है। प्रसिद्ध ध्रुवनक्षत्र जो अपने केन्द्र पर ही रहता है, इधर-उधर नहीं होता, उत्तर दिशा है। अतः पूर्व दिशा जहाँ प्रगति की, इच्छा की सम्प्रेष-याहिका है यहाँ उत्तर दिशा स्थिरता, दृढ़ता, निरन्तरता तथा एवं अचल आद की संकेत की कारिका है। जीवन-संग्राम में गति के साथ स्थिरता, इच्छा के साथ शान्ति और स्वस्थता अत्यन्त अपेक्षित है। केवल गति ही केवल स्थिरता जीवन को पूर्ण नहीं बनाती, किन्तु दोनों का मेल। जीवन को ऊँचा उठाता है। प्रगति और दृढ़ताके बिना कोई भी मनुष्य किसी भी प्रकार की उन्नति नहीं प्राप्त कर सकता।

उत्तर दिशा की अलौकिक शक्ति के सम्बन्ध में एक प्रत्यक्ष प्रमाण भी है। ध्रुव-यन्त्र यानी कुतुबनुमा में जो खोह घुम्बक को सुरे होत

: २३ :

प्राकृत भाषा में ही क्यों ?

सामाजिक के पाठ भारत की बहुत प्राचीन भाषा चर्च सामग्री है। इनके सम्बन्ध में आसकल तर्क किया जा रहा है कि हमें तो भा से मतलब है, चर्चों के पीछे बैठे रहने से क्या लाभ ? सामग्री पाठों को चर्चों की तरह पढ़ने रहने से हमें कुछ भी भाव पकड़े वा पकड़े। अतः चर्चों अपनी गुजराती, मराठी, हिन्दी आदि की भाषाओं में पाठों को पढ़ना ही लाभदायक है।

यह बहुत सुन्दर है, किन्तु अधिक गम्भीर विचारणा के सम चीका पद आता है। महापुरुषों की वाणी में और अन्तःसाधारण वाणी में क्या अन्तर होता है। महापुरुषों की वाणी के पीछे एक बौद्ध अन्तःसाधारण जीवन के गम्भीर अनुभव रहते हैं, जब कि अन्तःसाधारण की वाणी जीवन के बहुत ऊपर के स्तरों से ही सम्बन्ध रखती है। वही कारण है कि महापुरुषों के बीच-बाहे साधारण अन्त भी इतना समझ कर आते हैं, जीवन की धारा बरक देते हैं, अर्थकर से अर्थक राती को भी अन्तःसाधारण और अन्तःसाधारण बना देते हैं, जब कि अन्तःसाधारण अनुभवों की अन्तःसाधारण अन्तःसाधारण वाणी भी कुछ अन्तर नहीं क पाती। क्या कारण है, जो मरान् अन्तःसाधारणों की वाणी हमारे अन्तःसाधारणों के गुराते पुन से आसकल अन्तःसाधारण जीवन चर्चों का रही है, जो आसकल के अन्तःसाधारणों की वाणी उनके अन्तःसाधारण ही अन्त ही माली है। हाँ व हमारे अन्तःसाधारण नहीं कि महापुरुषों के अन्तःसाधारणों में कुछ अन्तःसाधारण अन्तःसाधारण,

पवित्रता एवं प्रभाव रहता है; जिसके कारण हजारों वर्षों तक लोग उसे बड़ी भ्रष्टा और भक्ति से मानते रहते हैं, प्रत्येक अक्षर को यदे चादर और प्रेम की दृष्टि से देखते हैं। अस्तु महापुरुषों के अन्दर जो दिव्य दृष्टि होती है, वह साधारण लोगों में नहीं होती। और यह दिव्य दृष्टि ही प्राचीन पाठों में गम्भीर अर्थ और विशाल पवित्रता की झलकें दिखाती है।

महापुरुषों के पास बहुत नये-नूतने होते हैं। वे ऊपर से देखने में अत्यन्त नातून होते हैं, परन्तु उनके भावों की गम्भीरता अपरम्पार होती है। प्राकृत और संस्कृत भाषाओं में सूक्ष्म से सूक्ष्म आन्तरिक भावों को प्रकट करने की जो शक्ति है, वह प्रान्तीय भाषाओं में नहीं पा सकती। प्राकृत में एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, और ये सब के सब यथा-भक्त्यं यदे हो सुन्दर भावों का प्रकट करता है। हिन्दी आदि भाषाओं में यह सूची नहीं है। साधारण आदिमियों की बात नहीं कहता, ये-वदे विद्वानों का कहना है कि प्राचीन मूल ग्रन्थों का पूर्ण अनुवाद होना असम्भव है। मूल के भावों को धातु की भाँति कर्पाएँ तरह-तु हो नहीं सकती। जब हम मूल की अनुवाद में उतरना चाहते हैं तो हमें देता लगता है; नानों टाठें नारते हुए महामाया की कृते में बन्द कर रहे हैं, जो सरंया अतन्मय है। चन्द्र, सूर्य, और इनालव के चित्र खिड़ारहे हैं; परन्तु वे चित्र मूल वस्तु का साक्षात् प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते। चित्र का सूर्य कभी प्रकट नहीं दे सकता। इसी प्रकार अनुवाद केवल मूल का धारा चित्र है। उस पर से धार मूल के भावों की अत्यन्त झलकें अवरण से मकते हैं, परन्तु मूल के पूर्ण दर्शन नहीं कर सकते। इति अनुवाद ने धातु मूल भाव कभी-कभी अन्ध से निश्चित भी हो जाते हैं। अर्थात् अनुवाद है, वह अनुवाद में अन्धो मूल की पट कहीं न कहीं दे हो देता है। अतः एव धातु के पुराण विद्वान् टीकाओं पर विरक्त नहीं होते, वे मूल का अवलोकन करने के बाद ही अन्ध विचार स्थिर करते हैं। अतएव

प्राकृत पादों की जो बहुत पुरानी परंपरा चली आ रही है, वह एवं उचित है। उसे बदल कर हम कहवाण की ओर नहीं आयेगे, प्रत्युत सब से भटक आयेगे।

भ्यवहार की दृष्टि से भी प्राकृत पाद ही औचित्यपूर्ण है। हमारी धर्मक्रियाएं मानवसमाज की एकता की प्रतीक हैं। साथ-ही किसी भी जाति के हों, किसी भी प्रांत के हों, किसी भी राष्ट्र के हों, जब वे एक ही स्थान में, एक ही वेशभूषा में, एक ही पराति में, एक ही भाषा में धार्मिक पाद पढ़ते हैं तो ऐसा मालूम होता है, जैसे सब भाई भाई हों, एक ही परिवार के सदस्य हों। क्या कमो आपने सुखमान भाइयों को ईद की नमाज पढ़ते देखा है? हजारों मस्तक एक साथ भूमि पर झुकते और उठते हुए कितने सुन्दर मालूम होते हैं? किसी भी भीतर नियमितता हृदय को मोह लेती है। एक ही धारणी भाषा का उपयोग किस प्रकार उन्हें एक ही संस्कृति के मूल में बांधे हुए है? केन्द्र के पास एक बार देहली में, बाद खानमराज जी मुराणा एक आपापी ध्यापारी को छात्र, जो अपने आपको बौद्ध कहवा था। मैंने एसाकि धार्मिक पाद के रूप में क्या पाठ पढ़ा करते हो तो उसने सहसा पाखीभाषा के कुछ पाठ अपनी अलफुट ही ध्वनि में उच्चारण किए। मैं अचानक विभोर हो गया—बड़ा पाखी के मूल पादों ने किस प्रकार भाव, जीवन, ज्ञान आदि गुरुर देणों को भी एक अमृत के मूल में बांध रक्खा है। अस्तु, सामायिक के मूल पादों की भी मैं यही दया रचना चाहता हूँ। गुजराती, बंगाली, हिन्दी और चंगेजी आदि की अलग-अलग लिखी मुक कहई समझ नहीं। यह विभिन्न भाषाओं का जाल हमारा प्राचीन सांस्कृतिक इका के लिए फुलारावण सिद्ध होगा।

जब यही भाव समझने की बात। इसके सम्बन्ध में वह आवश्यक है कि टोक-रिप्लिवों के आचार से बांधा बहुत मूल भाषा के ऐतिहासिक रूप और रूपों को समझने का प्रयत्न किया जाय। बिना

दो घड़ी हो क्यों

सामायिक का कितना काज है ? यह प्रश्न धातुकज काफी ब
का विषय बना हुआ है। आज का मनुष्य सांसारिक संकटों के त
अपने आपको इतना घेसाये जा रहा है कि वह अपनी प्राचीन प्रा
कल्याणकारिणी धार्मिक क्रियाओं को करने के लिए भी अवकाश न
निकाजना चाहता। यदि चाहता भी है तो इतना चाहता है कि अब
से जल्दी करकरा के छुटकारा मिले और घर के काम धंधे में लगे। ए
मनोवृत्ति के प्रतिनिधि कितने ही सज्जन कहते हैं कि—सामायिक स्वीक
करने का पाठ 'करेमि भते' है। उसमें केवल 'जाव नियम' पाठ है अर्थात्
जब तक नियम है तब तक सामायिक है। यही काज के सम्बन्ध
कोई निश्चित धारणा नहीं बताई गई है। अतः साधक की इच्छा
है कि वह जितनी देर ठीक समयके, उतनी देर सामायिक करे। दो घ
का ही बन्धन क्यों ?

इस प्रश्न के उत्तर में निवेदन है कि, ही आत्म साहित्य में साम
यिक के लिए निश्चित काज का उल्लेख नहीं है। सामायिक के पाठ
भी काज सर्वादा के लिए 'जाव नियम' ही पाठ है, 'मुमुक्षु' आदि नहीं।
परन्तु सर्वे साधारण प्रवृत्ति को नियम बद्ध करने के लिए प्राचीन आचार्य
ने दो घड़ी की सर्वादा बांध दी है। यदि सर्वादा न बांधी जाती त
बहुत सम्भवस्य होता। कोई दो घड़ी सामायिक करता तो कोई प
भर हो। कोई साध पड़ी में ही एतद्वत् करके निबट लेता तो कोई-को

इस पांच निन्दों में ही बेड़ा पार कर लेता। यदि प्राचीन काज से सामायिक को काज नयाँदा निरिच्छ न होती तो आज के भ्रष्टाचार युग में न नातून सामायिक को क्या दुर्गति होती? किस प्रकार उसे नयाँक की धोत्र बना लिया जाता?

नवोपिज्ञान की दृष्टि से भी काज नयाँदा आवश्यक है। धार्मिक क्या, किन्तु भी प्रकार की दृष्टि, यदि निरिच्छ सनप के साथ बढ़ न हो तो ननुप्य में शैथिल्य आ जाता है, कर्तव्य के प्रति उपेक्षा का भाव होने लगता है, अतः धीरे-धीरे अल्प से अल्प काज की धोत्र सरकता हुआ ननुप्य अन्त में केवल अनाथ पर आ खड़ा होता है। अतः आचार्यों ने सामायिक का काज दो धरो ठोक ही निरिच्छ किया है। आचार्य हेनचन्द्र भी अपने योग शास्त्र पंचम प्रकरण में सामायिक के लिए सुहृत् नर काज का स्पष्ट उल्लेख करते हैं—

तस्मात्—पंडितान्तर, तत्त्वदर्शनदर्शनः;

सुहृत् सनता वा ताः विदुः सामायिक-ननुप्य?

मूल आगम साहित्य में प्रत्येक धार्मिक क्रिया के लिये काज नयाँदा का विधान है। मुनिधर्मों के लिए पावज्योवन, पौषधर्म के लिए दिनरात्र, और मठ आदि के लिये अनुप्यनक आदि का उल्लेख है। सामायिक भी प्रत्यास्थान है, अतः प्रत्येक होता है कि पारों का प्रतिष्ठापन कितनी देर के लिए किया है? धोत्र से धोत्र और धरे से धरा प्रत्येक प्रत्यास्थान काज नयाँदा से बँधा हुआ होता है। शास्त्रीय दृष्टि से आवश्यक का पंचम मुख स्थान है, अतः यहाँ प्रत्यास्थान क्रिया नहीं हो सकती। प्रत्यास्थान क्रिया अनुप्य मुखस्थान तक ही है। अतः सामायिक में भी प्रत्यास्थान की दृष्टि से काज नयाँदा का निरिच्छ रहना आवश्यक है।

इस प्रत्यास्थानों में नवकरतो का प्रत्यास्थान किया जाता है। आगम में नवकरतो के काज का जौरही आदि के समान कितनी भी प्रकार का उल्लेख नहीं है। केवल इतना कहा गया है 'जब तक प्रत्या-

क्याल चाहते थे कि वह समरकार=नवकार मन्त्र न पड़े, वह व्यवस्था का त्याग करवा दें। परन्तु आप देखते हैं कि नवकारही किन्हीं पूर्ण परम्परा के मुहूर्त भर का काख माना जा रहा है। मुहूर्त नवकार के किन्हीं नवकारही का प्रत्याख्यान नहीं किया। आप इसी प्रकार सामाजिक के किन्हीं भी समरकार।

“एह व्यवस्थोत्पत्त्यावधानकस्य सामाजिकस्य मुहूर्तमानता सिद्धा
मुहूर्तमानता, प्रत्याख्यानकालस्य अवस्थोत्पत्ति मुहूर्तमानता
व्यवस्थावधानकालस्यविवेचि।”

—विमलाभसूत्रि, चारु वचन

मुहूर्त भर का काख ही क्यों निरिक्त किया ? एक बड़ी या न
बड़ी व्यवस्था ही या बार बड़ी भी कर सकते हैं ? परन्तु मुहूर्त
विमलाभ है। इसके अन्तर्गत के किन्हीं अपने आपमें ही व्यवस्था
में माना पड़ता। वह सामाजिक विमल है कि एक विचार, एक मूल्य
एक भाव, एक ध्यान अधिक से अधिक समरकारों में ही पाए
जाता है। समरकारों के बाद व्यवस्था ही विचारों में परिवर्तन का अन्त
“अन्तर्गतान्तरात् विमलस्यव्यवस्था एव मूल्य” — व्यवस्था का व्यवस्था ही
ही वा व्यवस्था ही के अन्तर्गत सामाजिक का मूल्य दिया हुआ कि
समरकारों का ही व्यवस्था ही से व्यवस्था ही व्यवस्था है। व्यवस्था ही
व्यवस्था ही, व्यवस्था ही व्यवस्था ही व्यवस्था है। व्यवस्था ही
एक व्यवस्था ही व्यवस्था ही सामाजिक के किन्हीं मुहूर्त का व्यवस्था ही
व्यवस्था है। व्यवस्था ही व्यवस्था ही व्यवस्था ही व्यवस्था ही व्यवस्था ही
एक व्यवस्था ही व्यवस्था ही व्यवस्था ही व्यवस्था ही व्यवस्था ही

वैदिक सन्ध्या और सामायिक

१. वेद धर्म में प्रतिदिन बुढ़-ब-बुढ़ पूजा पाठ, उप तप, मनु धाम-
स्वाय आदि धार्मिक विचारों को प्राप्ती है। मानव-आत्म तन्मन्त्रों
प्रतिदिन की आध्यात्मिक भूत का शान्ति के लिए, हरेक पन्थ का
भव वे कोई न कोई योग्यता, मनुष्य के सामने धर्मरूप रखी है।

वेद धर्म के द्वारा प्रणीत वैदिक धर्म में भी सन्ध्या के नाम से
एक धार्मिक अनुष्ठान का विधान है, जो प्रातः और सायंकाल दोनों
समय किया जाता है। वैदिक दास्यारों ने सन्ध्या का अर्थ किया
है—“न-उपम प्रकार से प्र-प्राप्त करना”। अर्थात् “अपने हृदय
का पूर्ण नीति और कर्मा के साथ प्रभाव करना, निन्दित करना”।
सन्ध्या शब्द का मूल अर्थ है—“नव, तपो, सन्ध्या”। एक वृत्ति
अर्थ का तात्पर्य है “उपनिषद् के समस्त धर्मोपदेश के साथ उपनिषद् का
संरक्ष दाता के”। एक लक्ष्य अर्थ का है, यह वह कि प्रातःकाल
और सायंकाल दोनों समयों पर है। प्रातः और दिव का समस्त प्रातः
काल है, एवं दिव और रात्रि को समस्त सायंकाल है। अतः सन्ध्या के
किया जाना प्रातः अर्थ का सन्ध्या शब्द से व्युत्पन्न होता है।

वैदिक धर्म का मूल समस्त हो शान्तिपूर्ण लक्ष्य प्रतिष्ठित है—अन्तर्गत
धर्म और धार्मिकता। अन्तर्गत प्रतीति का अर्थ है, यह कि
अर्थ नव की प्रतीति प्रातः के अनुष्ठान। वेदों का प्रातः
होने को ही अन्तर्गत से अन्तर्गत है, अतः प्रातः ही वैदिक धर्म का

मनुकृत्यैः वापेभ्यो रचन्तान् । यद् दद्याद् यद् गम्यावात्मनः परं मनसा
वाचा हस्तान्वा यदभ्यामुदरेण शिरसा गात्रावपतुमनु, यत् किञ्चिद्
दुर्गितं माते इदमस्मान्मृतप्रेतस्य मृत्युं शोभितारं पुनरिभं स्वारा ।”

—‘सूर्य मारायण, यद्यपि और-देवताओं से मेरी मार्यना है कि
यद्यपि यक तथा घोष से किये हुए पापों से मेरा रक्षा करें । दिन या
रात्रि में मन, वाणी, हाथ, पैर, उदर और शिरस से जो पाप हुए हों,
उन पापों को मैं अस्तप्रेतकी मृत्यु में होम करता हूँ । इसलिये वह उन
पापों को नष्ट करे ।’

मार्यन करना दुरा नहीं है । अपने दृष्ट देव के घरों में अपने
पाप को समर्पण करना और अपने अपराधों के प्रति क्षमायाचना करना,
मानव हृदय की बहुत अच्छी आवश्यकता से भरा दुरा कल्पना है ।
प्राग्नु भव पुत्र देवताओं पर ही धीरे बैठना, अपने ऊपर कुछ भी
उत्तरदायित्व न रखना, अपने जीवन के अनुदय एवं निधन के
लिए पुर कुछ न करके दिन रात देवताओं के आगे कर्तव्यक होकर
निरक्षिप्त हो रहना, उत्थान का मार्ग नहीं है । इस प्रकार मानव-
हृदय दुर्बल, साहन ह.व एवं कर्तव्य के प्रति पराङ्मुख हो जाता
है । अपनी ओर से जो शोध, पाप अपना दुराचल और दुरा हो,
उन के लिए केवल क्षमा मार्यना कर लेना और दूर से बसे रहने के
लिए निरक्षिप्त लेना, मानव जाति के लिए बड़ा ही घातक विचलन
है । व्याससिंह बात तो यह है कि सर्वप्रथम अनुभव कोई अपराध हो न
को । और बाद वाली कुछ अपराध हो जब जो उतक प्रतिपत्ति को
आपने के लिए लक्ष्य करत रह । यह क्या बात कि कर्म-का पाप
करना और दूर कर लेना के लक्ष्य देवताओं से दुरा का मार्यना करना,
दूर से बसे न कर आप जाना । यह भी कहा है, जातना नहीं । और
भी कहा बली भी नहीं कहा है । दुरा मार्यना के लक्ष्य-का यदि
अपने पाप को कुछ प्रमाण हो, मार्यना को जानना, लक्ष्य जाति को बहुत
आपराधों से भर, दूर से के लक्ष्य-का कर्म का लक्ष्य को ही मार्यना

दिलजाने के साथक भी नहीं रह-सकते। क्या ही अच्छा होता, यदि इत नम्र में अपराधों के अपराध को क्षमा करने को, वैर विरोध के स्थान में प्रार्थना के प्रति प्रेम और स्नेह की प्रार्थना की होती !

उपपुंक्त आशय का ही एक मंत्र यजुर्वेद का है, जो संन्या में तो नहीं पढ़ा जाता, परन्तु अन्य प्रार्थनाओं के क्षेत्र में वह भी विशेष स्थान पाये हुए है। यह मंत्र भी कित्ती विदुष्य, अमान्य एवं कतुपित हृदय की वाणी है। पढ़ते ही ऐसा लगता है, नाचों 'वधू' के हृदय में वैरविरोध का ज्वालामुखी छट रहा है।

यो अलम्बनयती पादरबा नो द्विजे जनः ।

निन्दाद् यो अलान् भिद्यन्व सर्वं तं नल्लय कुव ॥

—यजु० ११।६

—'जो हमसे शत्रुता करते हैं, जो हमसे द्वेष रखते हैं, जो हमारा निन्दा करते हैं, जो हमें धोखा देते हैं; हे भगवन् ! हे ईश्वर ! तू उन सब दुष्टों को नल्ल कर दाख ।'

यह सब उद्दरख लिखने का मेरा अभिनाय कित्ती विरोध भावना को बिष्ट हुए नहीं है। प्रसङ्ग बरा तानाषिक के साथ तुलना करने के बिष्ट ही इत और लक्ष्य देना पड़ा और सौमन्य से जो कुव देखा गया, वह मन को प्रभावित करने के स्थान में अभावित ही कर सका। मैं आर्य विद्वानों से विचित्र निवेदन कहूँगा कि यह इत और ध्यान दें तथा उपपुंक्त मंत्रों के स्थान में उद्दर एवं प्रेमभाव से भरे मंत्रों का प्रोत्रवा करें।

पाठक वैदिक धर्म को दोनों ही शास्त्रों की संन्या का वर्णन पढ़ चुके हैं। स्वयं मूखग्रन्थों को देखकर अपने आशयों और अधिक विरवस्त कर सकते हैं। और इधर तानाषिक आशय के मनव है ही। अतः आश तुलना कर सकते हैं, कितने क्या विरोधता है ?

तानाषिक के पाठों में प्रारम्भ से ही हृदय की अनेक एवं विचित्र भावनाओं को उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया है। धोरे से धोरे

चना सूत्र में परचाचाप पूर्वकामपक्षाम दुःखश्च इत्या आता है। ११७ कल्प
 अहिंसा और दया के महान् प्रतिनिधि तीर्थंकर देवों की स्तुति की गई
 है, और उसमें आध्यात्मिक शान्ति, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् समाधि के
 छिप् मङ्गल कामना की है। परचाचकरेमि भंते के पाठ में मन से बचन
 से और शरीर से पाप कर्म करने का त्याग किया जाता है। चारपे की
 प्रतिदिन जीवन में उतारने के छिप् साम्प्रतिक एक महती आध्यात्मिक
 प्रयोगशाला है। साम्प्रतिक में चार्त और सौद्र-ध्यान से चर्पाच शोक और
 द्वेष के संकल्पों से अपने आपको-सर्वथा मुक्तग रखा जाता है एवं हरन
 के अणु अणु में मैत्री, करुणा आदि उदात्त भावनों के आध्यात्मिक
 समुत्पन्न रस का संचार किया जाता है। आप देखेंगे, साम्प्रतिक की साधन
 करनेवाले के चारों ओर विरहमेम का सागर किस प्रकार उठे सातव है
 यहाँ द्वेष घृणा आदि दुर्भावनाओं का एक भी ऐसा शब्द नहीं है, जो
 जीवन को जराभी काजिमा का दाग लगा सके। पक्षपातहीन हृदय
 से विचार करने पर ही साम्प्रतिक की महत्ता का ध्यान आ सकेगा

प्रतिज्ञा पाठ कितनी बार ?

सामाजिक ग्रहण करने का प्रतिज्ञा पाठ 'करोमि भवे' है। यह बहुतही पवित्र और उच्च आदर्शों से भरा हुआ है। सम्पूर्ण जैन साहित्य इसी पाठ की धारणा में फल फूल कर विस्तृत हुआ है। प्रस्तुत पाठ के उच्चारण करते ही साधक, एक नवीन जीवन क्षेत्र में पहुँच जाता है, जहाँ राग द्वेष नहीं, घृणा नफरत नहीं, हिंसा अस्त्व नहीं, चोरी च्य-निचार नहीं, लड़ाई झगडा नहीं, स्वार्थ नहीं, दम्न नहीं: प्रस्तुत सब ओर दया, क्षमा, नम्रता, सन्तोष, तप, ज्ञान, भगवद्भक्ति, प्रेम, सरलता, शिष्टता आदि सद्गुणों की सुगन्ध ही नहकती रहती है। सांसारिक वासनाओं का अन्धकार एक बार तो विष निष हो जाता है, जीवन का प्रत्येक पहलू ज्ञानालोक से जगमगा उठता है !

हाँ तो सामाजिक करते समय यह पाठ कितनी बार पढ़ना चाहिए ? यह प्रश्न है, जो आज पाठकों के समक्ष विचारने के लिए रखा जा रहा है। आजकल सामाजिक एक बार के पाठ द्वारा ही ग्रहण कर ली जाती है। परन्तु यह अधिक औचित्य पूर्ण नहीं है। दूसरे पाठों की अपेक्षा इस पाठ में विशेषता होनी चाहिए। प्रतिज्ञा करते समय हमें अधिक सावधान और उत्सुक रहने के लिए प्रतिज्ञा पाठ की तीन बार दुहराना आवश्यक है। मनोविज्ञान का नियम है कि—जब तक प्रतिज्ञा वाक्य को दूसरे वाक्यों से शुद्ध नहल नहीं दिया जाता, तब तक वह मन पर उस संस्कार उत्पन्न नहीं कर सकता। भारतीय संस्कृति में तीन

वचन ग्रहण करना, यात्र भी रदवा के लिए अपेक्षित माने जाते हैं। तीन बार पाठ पढ़ते समय मन, योगव्रत की दृष्टि से कमलः तीन बार प्रतिज्ञा के शुभ भावों से भरजाता है और प्रतिज्ञा के प्रति शिथिल मंजल वेदः पूर्ण एवं सुदृढ़ हो जाता है।

गुरुदेव को वन्दन करते समय तीन बार प्रदक्षिणा करने का विधान है। तीन बार ही त्रिस्तुतो का पाठ यात्र भी उस परम्परा के तले पड़ा जाता है। आप विचार सकते हैं कि—प्रदक्षिणा भक्तिप्रदर्शन के लिये एक ही काफी है, तीन प्रदक्षिणा क्यों ? वन्दन पाठ भी तीन बार बोलने का क्या उद्देश्य ? आप कहेंगे कि यह गुरुभक्ति के लिए अत्यधिक धृष्टा व्यक्त करने के लिए है। मैं कहूँगा कि—सामायिक का प्रतिज्ञा पाठ तीन बार दुहराना भी, प्रतिज्ञा के प्रति अत्यधिक धृष्टा और रदवा के लिए अपेक्षित है।

सर्क के अतिरिक्त क्या कोई आगम प्रमाण भी है ? हाँ, खोजिये। व्यवहार मृगगत, धनुर्ध उद्देश के भाष्य में उल्लेख आता है—‘सामायिकं त्रिगुणमद्भुतगदं च’—भा० ३०६। आचार्य मल्लयगिरि, जो आत्मसाहित्य के समर्थ टीकाकार के नाम से विद्वत्समर में परिचित हैं, उपर्युक्त भाष्य पर टीका करते हुए लिखते हैं कि—‘त्रिगुणं त्रीन्वातन् सामायिकमुच्चारयति।’ उक्त वाक्य का अर्थ है—सामायिक पाठ तीन बार उच्चारण करना चाहिए। व्यवहार भाष्य ही नहीं, निरुपेक्ष चूँकि भी इस सम्बन्ध में यही स्पष्ट विधान करता है—“तेनो सामायिकं त्रिस्तुतोऽद्भुतः।” अस्तु, प्राचीन भाष्यकारों एवं टीकाकारों के मत से भी सामायिक प्रतिज्ञा पाठ का तीन बार उच्चारण करना उचित है। यह ठीक है कि ये उल्लेख साधु के लिए आए हैं, धावक के लिये नहीं। परन्तु मैं आपसे प्रश्न करता हूँ कि आत्मविकास की दृष्टि से साधु की भूमिका ऊँची है या गृहस्थ की ? हाँ तो जब उच्च भूमिका पात्र साधु के लिए तीन बार प्रतिज्ञा पाठ उच्चारण करने का विधान है, तब फिर गृहस्थ के लिए तो कोई विवाद ही नहीं रह जाता।

लोगस्स का ध्यान

सामायिक लेने से पहले कायोत्सर्ग किया जाता है; यह ध्यात्म-तत्त्व की विशुद्धि के लिए होता है। प्रश्न है कि कायोत्सर्ग में क्या पढ़ना चाहिये, किस पाठ का चिन्तन करना चाहिए ? आजकल दो परम्पराएं चल रही हैं। एक परंपरा कायोत्सर्ग में ईर्यापथिक सूत्र का ध्यान करने की पद्धतिना है तो दूसरी परंपरा लोगस्स के ध्यान की। ईर्या पथिक के ध्यान के सन्बन्ध में एक अर्थचन है कि जब एक बार ध्यान करने से पहले ही ईर्यापथी सूत्र पढ़ लिया गया, तब फिर उसे दुबारा ध्यान में पढ़ने की क्या आवश्यकता है ? यदि कहा जाय कि यह आलोचना सूत्र है, अतः गमनागमन की क्रिया का ध्यान में चिन्तन आवश्यक है तो इसके लिये निषेदन है कि तब तो पहले ध्यान में ईर्या-पथी पढ़ना चाहिए, और फिर बाद में खुले स्वर से। अतिचारों के चिन्तन में हम देखते हैं कि पहले ध्यान में चिन्तन होता है और फिर बाद में खुले रूप से मिच्छामि दुक्कड दिया जाता है। ध्यान में मिच्छामि दुक्कड देने की न तो परंपरा ही है और न औचित्य ही। अस्तु, जब पहले ही खुले रूप में ईर्यापथी पढ़कर मिच्छामि दुक्कड दे दी गई तो बाद में पुनः ध्यान में पढ़ने से क्या लाभ ? और दूसरे यदि पढ़ भी लो तो फिर उनकी मिच्छामि दुक्कड कहां देते हो ? ध्यान तो चिन्तन के लिए ही है, मिच्छामि दुक्कड के लिए नहीं। अतः लोगस्स के चिन्तन का पक्ष ही अधिक संगत प्रतीत होता है।

सोगस्स के ध्यान के लिए भी एक बात विचारणीय है। यह है कि मात्रकल ध्यान में सम्पूर्ण 'सोगस्स' पढ़ा जाता है, जब कि हमारे प्राचीन परंपरा हमकी साक्षी नहीं देती। प्राचीन परंपरा का कर्ण है कि ध्यान में "सोगस्स" का पाठ 'चंदेसु निम्मल्लयरा' तक ही वाप्य चाहिए, दो बार में सुछे रूप से पढ़ते समय सम्पूर्ण पढ़ना आवश्यक है।

प्रतिक्रमण सूत्र के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य विश्वक विखते हैं—

"कायोत्सर्गे च चन्देसु निम्मल्लयेत्यन्तरचतुर्विंशतिस्तवचिन्तय पारितेच समस्तो मस्तिव्यः ।"

—प्रतिक्रमण सूत्र वृत्ति

आचार्य हेमचन्द्र जैन समाज के एक प्रसिद्ध साहित्यकार एवं महान् ज्योतिषर आचार्य हुए हैं। आपने योग विषय पर सुप्रसिद्ध योग शास्त्र नामक ग्रन्थ लिखा है। उसकी स्वीकृत वृत्ति में सोगस्स के ध्यान के सम्बन्ध में आप लिखते हैं—

"पञ्चविंशत्युच्छ्वासाश्च चतुर्विंशतिस्तवेन चन्देसु निम्मल्लयरा इत्यन्तेन पूर्यन्ते ।" "सम्पूर्णकायोत्सर्गश्च नमो अग्निदत्ताय इति नमस्कार पूर्वक पारकिवा चतुर्विंशतिस्तवं सम्पूर्ण पठति" —तृतीय प्रकाश।

यह तो हुई प्राचीन प्रमाणों की चर्चा। अब जरा बुद्धिवाद पर भी विचार कर लें। कायोत्सर्ग अन्तर्जगत् की वस्तु है। बाह्य इन्द्रियों का व्यापार हटाकर केवल मानस लोक में ही प्रवृत्ति करना, इसका उद्देश्य है। अतः कायोत्सर्ग एक प्रकार की आध्यात्मिक निद्रा है। निद्रा जगत् का प्रतिविधि चन्द्र है, सूर्य नहीं। सूर्य बाह्य प्रवृत्ति का, इन्द्रिय का प्रतीक है। अस्तु कायोत्सर्ग में 'चंदेसु निम्मल्लयरा' तक का पाठ ही ठीक आध्यात्मिक स्वप्नता का सूचक है।

एक बात और भी है। ध्यान में प्रभु के स्वरूप का चिन्तन ही किया जाता है, प्रार्थना नहीं। अन्तिम प्रार्थना स्पष्ट रूप से प्रगट होनी चाहिए। इस दृष्टि से भी गाथा के अवशिष्ट तीन चरण ध्यान में

पढ़ना उचित नहीं जान-पड़ता; क्योंकि यह मार्पना का भाग है। मनोविज्ञान की दृष्टि से भी ध्यान और गुले रूप में पढ़ने का कुछ अन्तर होना चाहिए। विद्वानों से इस सम्बन्ध में अधिक विचार करने की मार्पना है।

लोगस्म के ध्यान के सम्बन्ध में एक बात और स्पष्ट करना आवश्यक है। आवश्यक लोगस्म पढ़ा तो जाता है, परन्तु यह सरसजा नहीं रही, जो पहले थी। इसका कारण बिना लक्ष्य के यों ही चल कर रहा है। लोगस्म का पाठ कर लेना है। हमारे हरिन्द आदि मार्पीन आचार्यों ने कापोल्यर्ग में लोगस्म का ध्यान करते हुए खाली-प्युयस की ओर लक्ष्य रखने का विधान किया है। उनका कहना है कि लोगस्म का एक-एक पद एक-एक खाल में पढ़ना चाहिए, एक ही खाल में कई पद पढ़ लेना, कथमपि उचित नहीं है। यह ध्यान नहीं, बेगार करना है। यह होर्परवान प्रासादान का एक महत्वपूर्ण अंग है। और प्रासादान योन साधना का, सब को सिद्ध करने का बहुत अच्छा साधन है। हों तो इस प्रकार नियम बद्ध होर्परवात से ध्यान किया जायता तो प्रासादान का अन्वाम होना, शब्द के साथ धर्म की सहित विचारणा का भी लाभ होता। ध्यान का परिश्रम केवल शब्द मात्र का आह्वान से नहीं होता है वह तो शब्द के साथ धर्म की संकीर्णता से उतरने से ही प्राप्त हो सकती है। पाठक आह्वय होकर खाल गलका के विद्यमानुसार, यदि धर्म का मनन करते हुए, शब्द के धारण में लक्ष्य का प्रकाश रहने हुए, प्रत्यक्ष विषय से लोगस्म का ध्यान करते तो वे अरब ही अन्वय-सृष्टि में आकर विभो होकर अपने ध्यान का परिणत करवाते। यदि हृत्त लक्ष्य न होयके तो जैसे वह पता जा रहा है वह पारत ही एक है। परन्तु सीधता न करके लो-लो धर्म की विचारणा अरब अरबित है।

: २८ :

उपसंहार

सामायिक के मूल पाठों पर विवेचन करने के बाद मेरे हृदय में एक विचार उठा कि 'आद्य की जनता में सामायिक के सम्बन्ध में बहुत ही कम जानकारी है, अतः प्रस्तावना के रूप में एक साधारण सी पुरोवचन लिखना अच्छा होगा।' अस्तु पुरोवचन लिखने बैठ गया और मूल आगमों, टीकाओं, स्वतंत्र ग्रन्थों एवं इधर उधर की पुस्तकों से जो सामग्री मिलती गई, लिखता चला गया। कुछस्वरूप पुरोवचन आया तो कुछ अधिक लम्बा हो गया, फिर भी सामायिक के सम्बन्ध में कुछ अधिक प्रकार नहीं ढाल सका। जैन साहित्य में सामायिक को सम्पूर्ण शास्त्री का मूल माना गया है, और इस पर पूर्वाचार्यों ने इतना अधिक लिखा है कि जिसकी कोई सीमा नहीं बाँधी जा सकती। फिर भी 'पादरुद्रियलौदयम्' जो कुछ समझ कर पाया हूँ, सन्तोषी पाठक उम्मी पर से सामायिक की महत्ता की झोंकी देखने की कृपा करें।

अब पुरोवचन का उपसंहार चल रहा है, अतः प्रेमी पाठकों को जल्दी बातों में न लेजा कर, संक्षेप में, एक दो बातों की ओर ही लक्ष्य खींचना है। हमारा काम आप के समक्ष आदर्श रख देने भर का है, उस पर चलना या न चलना आपके अपने संकल्पों के ऊपर है—
'प्रवृत्तिसारा खलु मादृशा गिरः।'

किन्तु भी वस्तु की महत्ता का पूरा परिचय, उसे आचरण में लाने से ही हो सकता है। पुस्तकें तो केवल आपको साधारण सी झोंकी ही

दिखा सकती है। अस्तु सामायिक की महत्ता आपको सामायिक करने पर ही नात्म हो सकती है। मिथी की डली, हाथ में रखने भर से मधुरता नहीं दे सकती, हाँ मुँह में डालिए आप ध्यानन्द विभोर हो जायेंगे। यह आचरण का शास्त्र है। आचारहीन को कोई भी शास्त्र आध्यात्मिक तेज धरें नहीं कर सकता। अतः आपका कर्तव्य है कि प्रतिदिन सामायिक करने का अभ्यास करें। अभ्यास करते समय पुस्तक में बताए गए नियमों की धोर लक्ष्य देते रहें। प्रारंभ में भले ही आप कुछ ध्यानन्द न प्राप्त कर सकें, परन्तु ज्योंही दृढ़ता के साथ प्रतिदिन का अभ्यास चालू रखेंगे तो अचर्य ही आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रगति कर सकेंगे। सामायिक कोई साधारण धार्मिक क्रिया काण्ड नहीं है, यह एक उच्च कोटि की धर्म साधना है। अतः अष्टांगी पद्धति से किया गया हमारा सामायिक, हमें सारा दिन कान आ सके इतना मानसिक बल और शान्ति देने वाला एक महान शक्तिशाली अस्त्रण्ड करना है।

आजकल एक नास्तिकता फैल रही है कि सामायिक क्यों करें? सामायिक से क्या लाभ? प्रतिदिन दो घड़ी का समय खर्च करने के बदले में हमें क्या मिलता है? आप इन कल्पनाओं से सर्वथा अलग रहिये। आध्यात्मिक क्षेत्र के लिए यह पैरय-वृत्ति यही ही घातक है। एक रुपये के बदले में एक रुपये की चीज लेने के लिए ऋणदान, बाजार में तो ठोक हो सकता है, धर्म में नहीं। यह नजदूरी नहीं है। यह तो मानव जीवन के उत्थान की सर्वधेष्ट साधना है। यहां सौदाबाजी नहीं, प्रत्युत जीवन को साधना के प्रति सर्वतोभावेन समर्पण करना ही, प्रत्युत साधना का मुख्य उद्देश्य है। भले ही कुछ देर के लिए आपको स्थूल लाभ न प्राप्त हो सके, परन्तु सूक्ष्म लाभ तो इतना बढ़ा होगा है, जिसकी कोई उपमा नहीं।

यदि कोई हठाम्ही यह कहे कि निद्रा में जो दृढ-मात्र पड़े चले जाते हैं; उसमें कोई स्थूल श्रम की प्राप्ति तो बही होती, अतः मैं निद्रा ही न लूँगा तो उस मूल्य का क्या हाल होगा? नास्तिक। शच-मात्र

निद्रा के बिना जीवन की कितनी आवश्यकता है ? निद्रा से स्वास्थ्य अच्छा रहता है, कठिन से कठिन कार्य करने के लिए साहस, स्फूर्ति होती है, शरीर और मन में उत्पन्न नवजीवन का संचार हो जाता है। निद्रा में ऐसी क्या शक्ति है ? इसके उत्तर में निवेदन है कि मन का व्यापक बंद होने से ही निद्रा आती है। जब तक मन खिंचा रहता है, जब तक कि काम, धर्म, कल्याण, अर्थ, इत्यादि का ध्यान रहता है, तब तक निद्रा का उद्भव नहीं हो पाता। निद्रा का अभाव हा भ्रष्टाचार है, सुषुप्ति है।

आप कहेंगे, सामायिक के प्रसंग में निद्रा की क्या चर्चा ? मैं कहूँगा सामायिक भी एक प्रकार की योग निद्रा है, आध्यात्मिक सुषुप्ति है, वित्तवृत्तियों के निरोध की साधना है। निद्रा और इस योग निद्रा में इतना ही अन्तर है कि निद्रा अज्ञान एवं प्रमादमूखक होती है, जबकि सामायिकरूप योगनिद्रा ज्ञान एवं जागृति पूर्वक। सामायिक में खिंचा मन की ज्ञानमूखक स्थिरता होती है, अतः इससे आध्यात्मिक जीवन के लिए बहुत कुछ उत्साह, बल, दीप्ति एवं प्रसफूर्ति की प्राप्ति होती है। सामायिक से क्या लाभ का प्रश्न उठाने वाले सम्मन इस दिशा में विशेष सोचने का प्रयत्न करें।

प्रश्न हो सकता है—वित्तवृत्ति का निरोध हो जाने पर अर्थात् एक क्षण पर मन को स्थिर कर लेने पर तो यह आनन्द मिष्ट सकता है। परन्तु जब तक मन स्थिर न हो, वित्तवृत्ति शांत न हो, तब तक तो कोई लाभ नहीं ? उत्तर है कि बिना साधन के साध्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। बिना धर्म के, बिना प्रयत्न के, कभी कुछ मिष्टा है ? प्रसिद्ध ब्राह्मणकार महीदास ने वेदोक्त ब्राह्मण में कहा कि 'चरन्त्येति, चरन्त्येति' 'चले चलो, चले चलो।' साधना के मार्ग में पहले रुकनासे बचना होता है, फिर साध्य की प्राप्ति का आनन्द उठाना जाता है। आनन्द

के महान् आदर्शों को पाकर भी हम उन्नत नहीं हो पाते, आध्यात्मिक उन्नति भूमिका पर चढ़ नहीं पाते ।

हैं तो सामायिक में हमें बड़ी सावधानी के साथ अन्तर्मुख में प्रवेश करना चाहिए । वास्तव जीवन की ओर अभिमुख रहने से सामायिक की विधि का पूर्णरूपेण पाठन नहीं हो सकता । अस्तु सामायिक में भगवान् तीर्थंकर देव की स्तुति भक्त्यामर आदि स्तोत्रों के द्वारा करना चाहिए, ताकि आत्मा में धृष्टा का अपूर्व तेज प्रगट हो सके । महापुरुष के जीवन की शक्तियों का विचार करना चाहिए, ताकि आत्मा के सम आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त हो सके । पवित्र धर्मपुस्तकों : अभ्ययन, चिन्तन, मन्त्र एवं नवकार मंत्र का जप करना चाहिए, ताकि हमारी अज्ञानता और अधर्मा का संहार हो । यदि इस प्रकार सामायिक का पवित्र समय बिताया जाए तो अवश्य ही आत्मा निश्चेयत प्राप्त करेगी, परमात्मा के पद पर पहुँच सकेगी । शान्ति ! शान्ति ! शान्ति !!!

श्रीपादजी सं० २००१

—मुनि चमरचन्द्र 'धर्म'

महेश्वरगढ़, पटियाळा

सा मा यि क सूत्र

三 二 三

明神宗皇帝 御製

明神宗皇帝 御製

明神宗皇帝 御製

明神宗皇帝 御製

明神宗皇帝 御製

明神宗皇帝 御製

明神宗皇帝 御製

明神宗皇帝 御製

明神宗皇帝

明神宗皇帝 御製

明神宗皇帝 御製

明神宗皇帝 御製

明神宗皇帝 御製

明神宗皇帝 御製

明神宗皇帝 御製

明神宗皇帝 御製

明神宗皇帝 御製

明神宗皇帝 御製

明神宗皇帝 御製

明神宗皇帝 御製

明神宗皇帝 御製

明神宗皇帝

明神宗皇帝

明神宗皇帝 御製

明神宗皇帝 御製

明神宗皇帝 御製

明神宗皇帝 御製

明神宗皇帝

अरिहन्त आदि महा पुरुषों का नाम लेने से पापमल इस प्रकार दूर हो जाते हैं, जिस प्रकार सूर्य देव के उदय होने पर खोर भागने लगते हैं। सूर्य ने चोरों को छाडी मार कर नहीं भगाया, किन्तु निमित्तमात्र से ही चोरों का पलायन हो गया। सूर्य कमल को खिलाने-विकसित करने, कमल के पास नहीं जाता, किन्तु उसके गगन मण्डल में उभर होते ही कमल स्वयं खिल उठते हैं। कमलों के विकास में सूर्य निमित्त कारण है, साधाकर्ता नहीं। इसी प्रकार अरिहन्त आदि महान आत्माओं का नाम भी संसारी आत्माओं के उत्थान में निमित्त कारण बनता है। सत्पुरुषों का नाम लेने से विचार पवित्र होते हैं। विचार पवित्र होने से असहसंकल्प नहीं हो पाते हैं। आत्मा में बल, साहस, शक्ति का संघट होना है, स्वस्वरूप का भान होता है। और तब कर्म बन्धन उसी तरह भट हो जाते हैं, जिस तरह बंका में मरुपाश में बंधे हुए हनुमान के रक्त बन्धन क्षिप्त भिन्न हो गए थे। कब, जब कि उसे वह भान हुआ कि मैं हनुमान हूँ, मैं इन्हें तोड़ सकता हूँ।

जैनधर्म की जितनी भी शास्त्रां हैं, उनमें चाहे कितना ही क्यों व विस्तृत भेद हो, परन्तु प्रस्तुत नमस्कार मंत्र के सम्बन्ध में सब के सब एक मत है। यह वह केन्द्र है, जहाँ हम सब दूर दूर के पात्री एकत्र हो जाते हैं। जैनों को अपने इस महामंत्र पर गर्व है। इसमें मानव जीवन की महान ऊँची भूमिकाओं को बन्दन कर के गुण-गुण का महत्त्व प्रगट किया गया है। आप देखेंगे कि हमारे पक्षीसी संस्कारों के मंत्रों में व्यक्तिवाद का प्राक्कष है, कहीं इन्द्र की स्तुति है तो कहीं विष्णु, शिव, ब्रह्मा, चन्द्र, सूर्य आदि की स्तुतियाँ हैं। परन्तु नमस्कार मंत्र आपके समक्ष है, आप इसमें किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं बता सकते। यहाँ तो जो गुणों के विकसित से ऊँचे हो गए हैं, उनकी नमस्कार है, भले ही वे किसी भी जाति, वर्ण, देश, वेद या संस्कार से सम्बन्ध रखते हों। बाह्य जीवन की विशेषताओं का प्रदन नहीं है, प्रदन है, आत्मा की आध्यात्मिक विशेषताओं का। अहिंसा, सत्य आदि

आध्यात्मिक गुणों का विकसित हो गुण-भूषा का कारण है, और यही नमस्कार मंत्र का अत्यन्त प्रभाव है।

महात्म्य नमस्कार का सर्वप्रथम विषयविशेषकर पद, अतिहन्त है। पुरुषों को हनन करने वाले अतिहन्त होते हैं। जिन अन्तःपुरुषों के कारण बाल भूमिका में अनेक संघर्ष गढ़े होते हैं, दुःख और स्वैर्य के संघर्ष होते हैं, उस कान, कोप, मद, लोभ, राग, द्वेष आदि पर पूर्ण विजय प्राप्त करने वाले और अहिंसा पूर्ण शान्ति के अन्तःपुरुषों को अतिहन्त भयवान् कह सकते हैं—अतिहन्ताद् अतिहन्तः।

तिद शब्द का अर्थ—दुर्लभ है। जो महात्मा जाना कर्मन्त से सर्वोत्तम हो कर, जन्म मरण के चक्र से तदा के लिए मुक्तता प्राप्त; अजर, अमर, तिद, बुद्ध, मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर चुके हैं, वे तिद पद से सम्बोधित होते हैं। तिद होने के लिए पहले अतिहन्त को भूमिका ठग करना होता है। अतिहन्त हुए बिना तिद नहीं बना जा सकता। लोकभाषा में जावनमुक्त अतिहन्त होते हैं, और विदेहमुक्त तिदः—'तिदपाने लो जेतिपाने भवने लो इति तिदाः।'

आचार्य का अंतरा पद है। जैनधर्म में आचार्य का बड़ा महत्त्व है। पद-पद पर सदाचार के मार्ग पर प्याब रखना ही जैन साधक को भेदवा का प्रभाव है। अस्तु, जो आचार्य का, मंचन का स्वयं पावन करते हैं, और सब का नेतृत्व करते हुए दूसरों में पावन करते हैं, वे आचार्य कहलाते हैं। जैन आचार्य-परंपरा के अहिंसा, तप, अस्तेय, महाव्रत और अतिप्रह ये पाँच मुख्य धर्म हैं। आचार्य को इन पाँचों महाव्रतों का प्रत्यक्ष से स्वयं पावन करना होता है। दूसरे भग्न प्राणियों को भी, भूक होने पर, उचित अतिविषय आदि देकर, तप पर प्रवृत्त करना होता है। साधु, साध्या, धारक और आचर्य-ये चतुर्विध सद्वर्ग हैं, इतको आध्यात्मिक साधना के नेतृत्व का मत आचार्य पर होता है—'आचार्योऽपि यत्ने इति आचार्यः।'

‘सा विद्या या विमुक्तये’—‘विद्या यही है जो हमें बामना से मुक्त कर सके।’ परन्तु जीवन में विवेक-विज्ञान की यही आवश्यकता है। भेद-विज्ञान के द्वारा जब और आत्मा के पृथक् करण का भाव होने वा ही साधक अपना ऊँचा एवं आदर्श जीवन बना सकता है। एक उन्नत साध्यात्मिक विद्या के शिष्य का भार उपाध्याय पर है। उपाध्याय मानव जीवन की अन्तः प्रक्रियाओं को यही सूक्ष्म पद्धति से सुझाने है, और अन्तर्िकाश से अज्ञान अन्धकार में भटकते हुए भगवत् प्राप्ति को विवेक का प्रकाश देता है।—उप=उपाध्याय। यस्मात् इति उपाध्यायः।

सा १ का अर्थ है—आत्माओं की साधना करनेवाला साधक। अनेक प्राणी सिद्धि के किशोर में हैं, परन्तु आत्माओं की सिद्धि की ओर श्रद्धा विरक्त हो महानुभाव का लक्षण जाता है। साध्यात्मिक साधनाओं की प्रथा कर जो पाँच इन्द्रियों को अपने पक्ष में रखने हैं, ब्रह्मचर्य की अवस्था को रखा करते हैं, कोष, मान, माया, ओम पर यथासंभव विविध प्रश्न उत्पन्न हैं, अहिंसा, शान्त, अस्तव, ब्रह्मचर्य और अपरिमित रूप पाँच महाजन पावन हैं, पाँच समिप और तीन गुणियों की सम्बन्धता आता बना करते हैं, ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्र्याचार, तप आचार, सेवाचार—इन पाँच आचारों के पावन में दिव्यता संक्रमण रहता है, जिन परिभाषा के अनुसार वे सा १ कहलाते हैं। ‘साध्यात्मिक ज्ञानादि-उपाध्याय’ के अर्थ में ‘साधक’। यह साधुपद सूत्र है। आत्माओं, उपाध्याय और अहिंसा—जाना पर इन्हीं साधुपद के निकटित रूप है। साधुपद के अन्तर्गत वे उन्नत जीवों परों का भूमिका पर अभ्यास नहीं वृद्धि का लक्ष्य है।

पञ्चरत्न ने ज्ञान और शान्त शब्द मान्य माने हैं ज्ञान है। जिन रूप का सम्बन्ध यही एवं करण परिलक्ष्य हो गया है। इस साधुपद के अर्थ में वह ही साध्यात्मिक दृष्टि से जीवन श्रद्धा साधक का अन्तर्गत है, परन्तु साध्यात्मिक दृष्टि से ज्ञान, उन्नत हो उन्नतवर्ग के अर्थ में किया जा सके वह ही अर्थ है।

है। यह संसार में जहां भी जिस किसी भी व्यक्ति के पास हो, अभिपन्दीय है। नमस्कार हो, लोक में=संसार में जिस किसी भी रूप में जो भी भाव साधु हों, उन सब=सबको ! कितना दीक्षिमान् महान् आदर्श है।

पाँचों पदों में प्रारंभ के दो पद देवकोटि में आते हैं, और अन्तिम तीन पद आचार्य, उपाध्याय, साधू, गुरु कोटि में। आचार्य, उपाध्याय साधू तीनों सभी साधक हो हैं, आत्मविकास की अपूर्ण अवस्था में ही हैं। अतः अपने से निम्न धेरी के धावक आदि साधकों के पूज्य और उत्तम धेरी के अरिहन्त आदि देवत्व के पूजक होने से गुरुत्वर की कोटि में हैं। परन्तु अरिहन्त और सिद्ध तो जीवन के अन्तिम विकास पद पर पहुँच गए हैं, अतः सिद्ध हैं, देव हैं। उनके जीवन में ज़रा भी असावधानी का, प्रमाद का लेश नहीं रहा, अतः उनका पतन नहीं हो सकता। अरिहन्त भी सिद्ध=पूर्ण हो हैं। अनुयोग द्वार सूत्र में उन्हें सिद्ध कहा भी है। अन्तरात्मा की पवित्रता की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। अन्तर केवल प्रारब्ध कर्मों के भोग का है। अरिहन्त प्रारब्ध कर्म भोगते हैं, जब कि सिद्धों को शरीर रहित मुक्ति मिल जाने के कारण प्रारब्ध कर्म होते नहीं।

● श्रुतिका में पाँचों पदों के नमस्कार की महिमा कथन की गई है। मूल नमस्कार मंत्र तो पाँच पद तक ही है। किन्तु यह श्रुतिका भी कुछ कम महत्व की नहीं है। बिना प्रयोजन के मंत्रों की प्रवृत्ति नहीं कर सकता—प्रयोजनमनु रश्मि मन्दोदय न प्रवर्तते। और यह प्रयोजन बताना ही श्रुतिका का उद्देश्य है। श्रुतिका में बताया गया है कि पाँच परमेश्वरों को नमस्कार करने से सब प्रकार के पापों का नाश हो जाता है। नाश ही नहीं, प्रकाश हो जाता है। प्रकाश का अर्थ है, पूर्ण रूप से माया, तम के लिए नाश। कितना उत्कृष्ट प्रयोजन है।

श्रुतिका में पहले पापों का नाश बतलाया है, और बाद में भगवत् का उल्लेख किया है। पहले दो पदों में हेतु का उल्लेख है, तो अन्तिम

दो पदों में कार्य का, फल का वर्णन है। जब आत्मा पाप-कर्मों से पूर्णतया साफ हो जाता है तो फिर सर्वत्र सर्वदा आत्मा का मंगल ही मंगल है, कल्याण ही कल्याण है। नमस्कार मंत्र हमें पापमय मन अभावस्थिति पर ही नहीं पहुँचाता, प्रसुप्त मिलनमय मंगल अविधान करके हमें पूर्ण आशावादी बनाता है, भावात्मक स्थिति पर भी पहुँचाता है।

आचार्य जयसेन नमस्कार मन्त्र पर विवेचन करते हुए, नमस्कार के दो भेद बतलाते हैं। एक द्वैत नमस्कार और दूसरा अद्वैत। अर्थात् उपास्य और उपासक में भेद प्रतीत रहता है, मैं उपासना करने वाला हूँ और ये अरिहन्त आदि मेरे उपास्य हैं—यह द्वैत बना रहता है, वह द्वैत नमस्कार है। और जब कि राग द्वेष के विकल्प नष्ट हो जाने पर चित्त की इतनी अधिक स्थिरता हो जाती है कि जिसमें आत्मा अपने आप को ही अपना उपास्य अरिहन्त आदि रूप समझता है और केवल स्वस्वरूप का ही ध्यान करता है, वह अद्वैत नमस्कार कहलाता है। दोनों में अद्वैत नमस्कार ही श्रेष्ठ है। द्वैत नमस्कार, अद्वैत का का साधन माध्यम है। पहले-पहल साधक भेद प्रधान साधना करता है, और बाद में ज्यों-ज्यों आगे प्रगति करता है, त्यों-त्यों अभेद प्रधान साधक बनता है। पूर्ण अभेद साधना अरिहन्त दशा में प्राप्त होती है।

—‘अहमाराधकः एतच्च अर्हदादय आराध्या इत्याराध्यायक विकल्प रूपा द्वैत नमस्कारो भव्यते। रागा य पाथि विकल्प रहित परमसन्नाधि चलेनात्मन्येव आराध्यायक भावः पुनर द्वैत नमस्कारो भव्यते।’

—प्रवचन सार तात्पर्य वृत्ति।

अद्वैत नमस्कार की साधना के लिए साधक को निरवयव दृष्टि-ध्यान होना चाहिए। जैन-धर्म का परम लक्ष्य निरवयव दृष्टि ही है। हमारी विजय-यात्रा बीच में ही कहीं टिक रहने के लिए नहीं है। हम तो धर्म-विजय के रूप में एक-मात्र अपने आत्म-स्वरूप रूप परम लक्ष्य पर

पहुँचना चाहते हैं। अतः नमस्कार मंत्र पढ़ते हुए साधक को नमस्कार के पाँच महान् पदों के साथ अपने आपको सर्वथा अभिन्न अनुभव करना चाहिए। विचार करना चाहिए कि 'मैं मात्र आत्मा हूँ, कर्म मल से अलिप्त हूँ। यह जो कुब्र भी कर्म-बन्धन है, मेरी अज्ञानता के कारण ही है। यदि मैं अपने इस अज्ञान के पदों को, मोह के आवरण को दूर करता हुआ आगे बढ़ूँ और अन्त में इसे पूर्ण रूप से दूर करदूँ तो मैं भी कमलः साधु हूँ, उपाध्याय हूँ, आचार्य हूँ, अरिहन्त हूँ, और सिद्ध हूँ। मुझ में और इनमें भेद ही क्या रहेगा? उस समय तो मेरी नमस्कार मुझे ही होगी न? और अब भी जो मैं यह नमस्कार कर रहा हूँ, सो गुलामों के रूप में किसी के आगे नहीं झुक रहा हूँ। प्रत्युत अत्म-गुणों का ही आदर कर रहा हूँ; अतः एक प्रकार से मैं अपने आपको ही नमन कर रहा हूँ।' जैन शास्त्रकार त्रिस प्रकार भगवतोत्पन्न आदि में निरचय-दृष्टि की प्रमुखता से आत्मा को ही सान्नायिक कहते हैं; वही प्रकार आत्मा को ही पंच परमेष्ठो भी कहते हैं। अतः निरचय नय से यह नमस्कार पाँच पदों को न होकर अपने आप को ही होती है। इस प्रकार निरचय-दृष्टि को उच्च भूमिका पर पहुँच कर, जैन-धर्म का वाचचिन्तन, अपनी चरम-सीमा पर अगस्थित हो जाता है। अपने आत्मा को नमस्कार करने का भावना के द्वारा अपने आत्मा की पूज्यता, उच्चता, पवित्रता और अन्तर्लोक्या परमात्मरूपता ध्वनित होती है। जैन-धर्म का गंभीर घोष है कि 'अपन्न आत्मा ही अपने भाग्य का निर्माता है, अक्षर अविनाशिक का भण्डार है, और शुद्ध परमात्म-रूप है—'अन्ना तो ममन्ना' यह वाक्य नमस्कार आदि की भूमिका मात्र प्रारंभ का मार्ग है। इसकी सफलता, पूर्णता निरचय भाव पर पहुँचने में ही है, अन्यत्र नहीं। हाँ, यह जो कुब्र भी मैं कह रहा हूँ, केवल मति कल्पना ही नहीं है। इस प्रकार अद्वैत नमस्कार की भावना का अनुशीलन कुब्र पुराचार्यों ने किया भी है। एक आचार्य कहते हैं:—

नमस्तुभ्यं नमस्तुभ्यं, नमस्तुभ्यं नमोनमः ।

नमो मद्यां नमो मद्यां, नमो मद्यां नमोनमः ॥

जैन-संसार के मुनिसिद्ध मर्मी संत भी आनन्दवन जी भी एक उग्र भगवत्स्तुति करते हुए वही ही सुन्दर मत्स्य भाव-उत्तर में कह रहे हैं—

अशो अशो दुं मुक्तं नन्, नमो मुक्त नमो मुक्त रे ।

अस्मेत्त फलदान दातारनी, जेहने भेंट यह मुक्त रे ॥

नवकारमंत्र के पाँचों पदों में सर्वत्र आदि में बोझा जाने वाला नमो पद, पूजार्थक है । इसका भाव यह है कि महापुरुषों को नमस्कार करण ही उनकी पूजा है । नमस्कार के द्वारा हम नमस्करणीय पवित्र आत्मा के प्रति अपनी भक्ति, भक्ति और पूर्णभावना प्रकट करते हैं । यह नमस्कार-पूजा दो प्रकार से होती है—द्रव्य नमस्कार और भाव नमस्कार । द्रव्य-नमस्कार का अभिप्राय है, हाथ-पैर और मस्तक आदि अंगों को एक बार हरकत में लाकर महापुरुषकी ओर मुका देना, स्थिर कर देना । और भाव नमस्कार का अभिप्राय है—अपने चंचल मन को इधर-उधर के विकल्पों से हटाकर महापुरुष की ओर प्रविष्टात्मकाग्र करना । नमस्कार करने वालों का कर्तव्य है कि वह दोनों ही प्रकार का नमस्कार करें । नमः शब्द पूजार्थक है, इसके लिए धर्म संग्रह का दूसरा अधिकार देखिए—

— नमः इति नैमित्तिक पदं पूजार्थम् । पूजा च द्रव्यभाव-संकोचः । तत्र कर शिरः पादादिद्रव्यसंन्यासो द्रव्यमंकोचः । भावसंकोचस्तु विगुह्यस्त मनसो योगः ।

यद्यपि आध्यात्मिक पवित्रतारूप निष्कलकता की सर्वोत्कृष्ट दशा में पहुँचे हुए पूर्ण विशुद्ध आत्मा केवल सिद्ध भगवान ही हैं, अतः सर्व प्रथम उन्हीं को नमस्कार की जानी चाहिए थी । परन्तु सिद्ध भगवान के स्वरूप को बतलाने वाले, और अज्ञान अंधकार में भटकने वाले मानव संसार को मत्स्य की अलख ज्योति कै दर्शन कराने वाले परमोपकारी श्री अरिहन्त भगवान ही हैं, अतः उनको ही सर्वप्रथम नमस्कार

किया गया है। यह व्यावहारिक दृष्टि की विशेषता है। प्रश्न हो सकता है कि इस प्रकार तो सर्वप्रथम साधु को ही नमस्कार करना चाहिए। क्योंकि आजकल हमारे लिए तो यही सत्य के उपदेष्टा हैं। उत्तर में निवेदन है कि सर्व प्रथम सत्य का साक्षात्कार करनेवाले और केवल ज्ञान के प्रकार में सत्यासत्य का पूर्ण विवेक परखनेवाले तो श्री अरिहंत भगवान ही हैं। उन्होंने जो कुछ सत्य बातों का प्रकाश किया, उसी को आजकल मुनि महाराज जनता को बताते हैं। स्वयं मुनि तो सत्य के साथे साक्षात्कार करने वाले नहीं हैं। वे तो परंपरा से आनेवाला सत्य ही जनता के समक्ष रख रहे हैं। अतः सत्य के पूर्ण अनुभवी मूल उपदेष्टा होने की दृष्टि से, गुरु से भी पहले, अरिहंतों को नमस्कार है।

जैन-धर्म में नवकार मंत्र से यद्वर कोई भी दूसरा मंत्र नहीं है। जैन-धर्म अध्यात्म-विचारधारा प्रधान धर्म है, अतः उसका मंत्र भी अध्यात्म-भावना प्रधान ही होना चाहिए था। और इस रूप में नवकार मंत्र सर्वश्रेष्ठ मंत्र है। नवकार मंत्र के सम्यग्धर्म में जैन परंपरा की नान्यता है कि यह संपूर्ण जैन वाङ्मय का अर्थात् चौदह पूर्व का सार है, निचोड़ है। चौदह पूर्व का सार इसलिए है कि इसमें सनभाव की महत्ता का दिग्दर्शन कराया गया है, बिना किसी साम्प्रदायिक या सिध्दा जातिगत विशेषता के गुण-भूजा का महत्त्व बताया गया है। जैन धर्म की संस्कृति का प्रवाह सनभाव को लक्ष्य में रखकर ही प्रवाहित हुआ है, फलतः संपूर्ण जैन-साहित्य इसी भावना से ओत-प्रोत है। जैन-साहित्य का सर्वप्रथम मंत्र नवकार मंत्र भी उसी दिव्य सनभाव का प्रमुख प्रतीक है। अतः यह चौदह पूर्व रूप जैन साहित्य का सार है, परम निष्पन्द है। नवकार को मंत्र क्यों कहते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जो मनन करने से, वित्तन करने से दुःखों से श्राव-रक्षा करता है, वह मंत्र होता है। 'मंत्रः परमो जेपो मननं श्रावोऽतो निरन्तात्।' यह न्युत्पत्ति नवकार मंत्र पर ठीक बैठती है। यीतराग महापुरुषों के प्रति अक्षय्य धन-भक्ति व्यक्त करने में अपने आपकी हीन सनन्त

रूप संशय का नाश । ... का विकास होता है, ... संकटों का नाश स्वयं ।

प्राचीन धर्म-ग्रन्थों ... भी है । जो महात्मा आत्मा परमे श्रधात् उत्पन्न स्वरूप में ... की श्रधात रहती है, वे परमेष्ठी कहलाती हैं । साध्यात्मिक विकास जैसे पद पर पहुँचे हुए जीव ही परमेष्ठी माने गए हैं और जिसमें परमेष्ठी आत्माओं को नमस्कार किया गया हो, वह मंत्र परमेष्ठी कहलाता है ।

जैन परम्परा नवकार मंत्र को महा मंगल के रूप में बहुत ब आदर का स्थान देती है । अनेक शाखाओं ने इस सम्बन्ध में नवकार की महिमा का वर्णन किया है और नवकार की श्रुतिका में भी कहा गया है कि नवकार ही सब मंगलों में प्रथम श्रधात् अत्यन्त आध्यात्मिक को प्रथित=विस्तृत करने वाला सर्व प्रधान मंगल है । 'मंगलाय सर्वेति पदमं इत्यहं मंगल ।' हाँ, तो जरा मंगल के ऊपर भी विचार लें कि वह प्रधान मंगल किस प्रकार है ?

मंगल के दो प्रकार हैं—एक द्रव्य मंगल और दूसरा भाव मंगल । द्रव्य मंगल को लौकिक मंगल और भाव मंगल को लोकोत्तर मंगल कहते हैं । दही और अचूत आदि द्रव्य मंगल माने जाते हैं साधारण जनता इन्हीं मंगलों के ध्यामोह में फँसी पड़ी है । अनेक प्रकार के मिथ्या विश्वास द्रव्य मंगलों के कारण ही पैदे हुए हैं परन्तु जैन धर्म द्रव्य मंगल की महत्ता में विश्वास नहीं रखता । क्योंकि वे मंगल, अमंगल भी हो जाते हैं और सदा के लिये दुःखरूप अमंगल का अन्त भी नहीं करते, अतः द्रव्य मंगल ऐकान्तिक और आश्रयस्थितिक मंगल नहीं हैं । दही यदि ज्वर की दशा में खाया जाए तो क्या होगा ? अचूत यदि मस्तिष्क पर न लग कर आँख में पड़ जाए तो क्या होगा ? अमंगल ही होगा न ? अस्तु, द्रव्य मंगल का मोह

घोड़कर सर्वे साधक को भाव मंगल ही धरना चाहिए। नमस्कार मंत्र भाव मंगल है। यह अन्तर्जगत से, भाव लोक से सम्बन्ध रखता है अतः भाव मंगल है। यह भाव मंगल सर्वथा और सर्वदा मंगल ही रहता है, साधक को सब प्रकार के संकटों से बचाता है, कभी भी परममंगल पूर्वक अहितकर नहीं होता। भाव मंगल जप, तप, ज्ञान, दर्शन, स्तुति, चरित्र, नमस्कार, निषण आदि के रूप में अनेक प्रकार का होता है। ये सब के सब भाव मंगल, मोक्ष रूप सिद्धि के साधक होने से ऐकान्तिक एवं आत्मन्तिक मंगल हैं। नमस्कार मंत्र जप तथा नमस्कार रूप भाव मंगल है। प्रत्येक शुभ कार्य करने से पहले नमस्कार मंत्र पढ़ कर भाव मंगल कर लेना चाहिए। यह सब मंगलों का राजा है, अतः संसार के अन्य सब मंगल इनकी दासताबद्ध हैं। सर्वे जैन की बज्रों में उनका स्था महत्त्व !

नमस्कार मंत्र के नमस्कार मंत्र, परमेश्वर मंत्र आदि कितने ही नाम हैं। परन्तु सब से प्रसिद्ध नाम नमस्कार ही है। नमस्कार मंत्र में नम अर्थात् नौ पद हैं, अतः इसे नमस्कार मंत्र कहते हैं। पाँच पद तो मूल पदों के हैं और चार पद चूलिका के। इस प्रकार कुल नौ पद होते हैं। एक परमेश्वर, नौ पद दूसरे प्रकार से भी मानती हैं। यह इस प्रकार कि पाँच पद तो मूल के हैं और चार पद नम नमस्कार=ज्ञान की नमस्कार हो, नम नमस्कार=दर्शन की नमस्कार हो, नम नमस्कार=चरित्र की नमस्कार हो, नम नमस्कार=उप की नमस्कार हो, उपर की चूलिका के हैं। इस परमेश्वर में अहिम्मा आदि पाँच पद साधक और सिद्ध की भूमिका के हैं तथा अन्तिम चार पद साधन के सूचक हैं। ज्ञान आदि की साधन के द्वारा ही साधु आदि साधक अष्टात्म स्वरूप में प्रगति करते हुए अष्टम अहिम्मा बनते हैं और परब्रह्म अक्षर अक्षर सिद्ध हो जाते हैं। इस परमेश्वर में ज्ञान आदि चार गुणों की नमस्कार करके जैन धर्म में उन्मुख हुए पूजा का महत्त्व स्पष्ट किया है। अतएव साधु आदि पदों का महत्त्व व्यक्ति की दृष्टि से नहीं गुणों की दृष्टि

से है। साधक की महत्ता ज्ञान आदि की साधना के द्वारा ही है, अन्यथा नहीं। और जब ज्ञानादि की साधना पूर्ण हो जाती है, तब साधक परिहृत सिद्ध के रूप में देवकोटि में जाया जाता है। ही से दोनों ही परम्पराओं के द्वारा भी पद होते हैं और इसी कारण प्रसूत मंत्र का नाम नवकार मंत्र है। नवकार मंत्र के भी पद ही क्यों हैं। भी पद का क्या महत्त्व है? इन प्रश्नों पर भी यदि कुछ सोच और विचार कर लें तो एक गम्भीर रहस्य स्पष्ट हो जायगा।

भारतीय साहित्य में भी का षंक अक्षय सिद्धि का सूचक माना गया है। दूसरे षंक अक्षय नहीं रहते, अपने स्वरूप से व्युत्पन्न हो जाते हैं, परन्तु भी का षंक हमेशा अक्षय अक्षय बना रहता है। उदाहरण के लिए दूर भ आकर, मात्र भी के पढ़ावे को ही ले लें। पाठक साधना के साथ भी का पढ़ावा गिनते जाएँ, सर्वत्र भी का षंक ही देख कर वे उपलब्ध होगा:—

$$६ + ६$$

$$१८=१ + ८=९$$

$$२०=२ + ०=२$$

$$३१=३ + १=४$$

$$४२=४ + २=६$$

$$५३=५ + ३=८$$

$$६४=६ + ४=१०$$

$$७५=७ + ५=१२$$

$$८६=८ + ६=१४$$

आपकी समझ में ठीक और से आ गया होगा कि आठ और एक भी, मात्र और दो भी, त्रिः और तीन भी, पञ्च और चार भी—इस सीढ़ी पर चढ़ो में गुणाकार के द्वारा भी का षंक पूर्णतया अक्षय ही बन रहता है। गणित शास्त्र की यह साधारण सी प्रक्रिया, भी के षंक की अक्षयस्वरूपता का सुन्दर परिचय दे देती है। भी के षंक की अक्षयता

१ के भागे का ० शून्य है। हाँ तो वमस्कार महामंत्र की शुद्ध इन्द्र साधना करने वाला साधक भी १ के पहाड़े के समान विकसित होता अन्त में १० के रूप में अर्थात् सिद्ध रूपमें पहुँच जाता है, आत्मा में मात्र अपनी निजी शुद्ध रूप ही बचा रह जाता है। का अशुद्ध अंश सदा काल के लिए पूर्णतया नष्ट हो जाता है।

: २ :

सम्यक्त्व-सूत्र

अरिहंतो मह देवो, जावज्जीवं सुसाहुणे गुरुणो ।
जिण-पणत्तं तत्तं, इअ सम्मत्तं माए गहियं ॥

शब्दार्थ

जावज्जीवं=जीवन पर्यन्त

जिण-पणत्तं=वीतराग देव का
प्ररूपित तत्त्व ही

मह=मेरे

तत्तं=तत्त्व है, धर्म है

अरिहंतो=अरिहन्त भगवान्

इअ=यह

देवो=देव हैं

सम्मत्तं=सम्नयकत्व

सुसाहुणो=ध्रेष्ठ साधू

मे=मैंने

गुरुणो=गुरु हैं

गहियं=ग्रहण किया

भावार्थ

राग-द्वेष के जीतनेवाले श्री अरिहंत भगवान् मेरे देव हैं, जीवन पर्यन्त संयम की साधना करने वाले सच्चे साधू मेरे गुरु हैं, श्री जितेश्वरदेव का बनाया हुआ अहिंसा सत्य आदि ही मेरा धर्म है—यह देव, गुरु, धर्म पर भ्रष्टा स्वरूप सम्यक्त्व मत मैंने जावज्जीवन के लिए ग्रहण किया ।

विवेचन

यह सूत्र 'सम्यक्त्व सूत्र' कहा जाता है । सम्यक्त्व, जैनत्व की

वह प्रथम भूमिका है, जहाँ से भव्य प्राणी का जीवन अज्ञान अवस्था से निकल कर ज्ञान-प्रकाश की ओर अग्रसर होता है। अनेक ब्रह्म

क्रियाएँ, केवल अज्ञान कष्ट ही मानी जाती हैं, धर्म नहीं। अज्ञान के ससारचक्र का घेरा बहाली ही है, चटाती नहीं।

सच्चा भावकर और सच्चा साधुत्व पाने के लिए सबसे पहली शर्त सम्यक्त्व-प्राप्ति की है। सम्यक्त्व के बिना होने वाला व्यावहारिक चारित्र्य, चाहे वह थोड़ा ही या बहुत, वस्तुतः कुछ है ही नहीं। बिना चक्र के बाधों, करोड़ों, धर्मों विन्दिमा केवल शून्य कहलाती है, गणित में सम्मिलित नहीं हो सकती। हाँ, चक्र का आशय पाकर शून्य का मूल्य इस गुणा हो जाता है। इसी प्रकार सम्यक्त्व प्राप्त करने के बाद व्यावहारिक चारित्र्य भी निरन्तर में परिणत होकर पूर्णतया उद्दीप्त हो उठता है।

चारित्र्य का पद तो बहुत दूर है, सम्यक्त्व के अभाव में तो मनुष्य ज्ञानी होने का पद भी नहीं प्राप्त कर सकता। ऐसा प्रयत्न उसके लिए असंभव है। अनेक ही मनुष्य भ्यास या दर्शन आदि शास्त्र के गंभीर रहस्य जान ले, विज्ञान के क्षेत्र में हजारों नवीन आविष्कारों की मूर्ति का दृष्टि, धर्म शास्त्रों के गहन से गहन विषयों पर भावभरी शिष्यावस्था की जिज्ञासो, परन्तु सम्यक्त्व के बिना वह मात्र विद्वान् हो सकता है, ज्ञानी नहीं। विज्ञान और ज्ञानी दोनों के दृष्टिकोश में बड़ा भारी अन्तर है। विज्ञान का दृष्टिकोश संसाराभिमुख होता है जब कि ज्ञानी का दृष्टिकोश आत्माभिमुख। अतः सिध्दाष्टि विज्ञान, अपने ज्ञान का उपयोग कदापि के पोंप में करता है, और सम्यग्दृष्टि ज्ञानी, कदापि के पोंप में। वह कदापि का-मार्ग की पूजा का निर्मल दृष्टिकोश बिना सम्यक्त्व के कदापि प्राप्त नहीं हो सकता। अतएव भगवान् महेश्वर ने अपने वाचतुरी वाले अन्तिम धर्म प्रवचन में स्पष्ट रूप से कहा

है कि—‘सम्यक्त्व-होन को ज्ञान नहीं होता, ज्ञानहीन को चारित्र्य नहीं होता, चारित्र्यहीन को मोक्ष नहीं होता, और मोक्षहीन को निर्वाण-पद नहीं मिल सकता।’

नादंउत्तिष्ठ नारं

नारोर विद्या न हुंति चरन्-गुरा ।

अगुरुत्त नत्थि नेत्थो,

नत्थि अमोक्खत्त निव्वारं ॥

सम्यक्त्व को महत्ता का वर्णन काफी लम्बा हो चुका है। अब प्रश्न यह है कि यह सम्यक्त्व है क्या चीज ? उक्त प्रश्न के उत्तर में कहना है कि—संसार में जितनी भी आत्माएँ हैं, वे सब तीन अवस्थाओं में विभक्त हैं—(१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा और (३) परमात्मा।

पहली अवस्था में आत्मा का वास्तविक शुद्ध स्वरूप, मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के आवरण से सर्वथा आवृष्ट रहता है। अतः आत्मा निरंतर मिथ्या संकल्पों में फँस कर, पौद्गलिक भोग विलासों की ही अपना आदर्श मान लेता है, उनकी प्राप्ति के लिए ही अपनी सम्पूर्ण शक्ति का व्यपन्य करता है। वह सत्य संकल्पों की ओर कभी नज़र कर भी नहीं देखता। जिस प्रकार ज्वर के रोगी को अच्छा से अच्छा पथ्य भोजन अच्छा नहीं लगता; इसके विपरीत कुपथ्य भोजन ही अच्छा लगता है; ठीक उसी प्रकार मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से जीव का सत्य धर्म के प्रति द्वेष तथा असत्य धर्म के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है। यह बहिरात्मा का स्वरूप है।

दूसरी अवस्था में, मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का आवरण विघ्न-निवृ हो जाने के कारण, आत्मा; सम्यक्त्व के आलोक से आलोकित हो उठता है। यहां आकर आत्मा सत्यधर्म का साक्षात्कार कर लेता है, पौद्गलिक भोगविलासों की ओर से उदामीन सा होता हुआ शुद्ध आत्मस्वरूप की ओर मुड़ने लगता है, आत्मा और परमात्मा में एकता साधने का भाव जागृत करता है। इसके अनंतर ज्यों-ज्यों चारित्र्य मोहनीय

कर्म का आवरण क्रमशः शिथिल शिथिलतर, एवं शिथिलतम होता जाता है, त्यों-त्यों आत्मा बाह्य भावों से सिमित कर अंतरंग में बँटित होता जाता है और विक्रमानुसार इंद्रियों का जय करता है, तब प्रत्याख्यान करता है, आवश्यक पूर्व साधुत्व के पद पर पहुँच जाता है। यह अन्तरात्माका स्वरूप है।

तीसरी अवस्था में आत्मा अपने आध्यात्मिक गुणों का विकास करते-करते अंत में अपने विशुद्ध आत्म-स्वरूप को पा लेता है, अन्तरी प्रवाह से निरंतर चले आने वाले ज्ञानावरण आदि सप्त कर्म आवरणों का जाल सर्वथा नष्ट कर देता है, और अंत में केवल ज्ञान तथा केवल दर्शन की ज्योति के पूर्ण प्रकाश से जगमगा उठता है। यह परमात्मा का स्वरूप है।

पहला, दूसरा और तीसरा गुण स्थान बहिरात्म-अवस्था का विशेष है। चौथे से बारहवें तक के गुणस्थान अन्तरात्म अवस्था के परिचारक हैं। और तेरहवाँ, चौदहवाँ गुण स्थान परमात्म-अवस्था का गृहक है। हर एक साधक बहिरात्म-भाव की अवस्था से निकल कर, अंतरात्मा की आदि भूमिका सम्यक्त्व पर आता है एवं सर्व प्रथम यही परमात्मा की वास्तविक ज्योति के दर्शन करता है। यह सम्यग्दर्श नामक गुण स्थान की भूमिका है। यहाँ से आगे बढ़कर पाँचवें गुणस्थान में आत्म-कर्म के तथा छठवें गुणस्थान में साधुत्व के पद पर पहुँच जाता है। सातवें से लेकर बारहवें तक मध्य के गुणस्थान साधुता के विकास की भूमिका रूप हैं। बारहवें गुणस्थानमें सर्व प्रथम मोहनीय कर्म नष्ट होता है। और ज्योही मोहनीय कर्म का नाश होता है त्यों ही तत्काल ज्ञानावरण, दर्शनावरणीय, अंतरात्म कर्म का नाश हो जाता है और साधक तेरहवें गुणस्थान में पहुँच जाता है। ११ वें गुणस्थान का स्वामी पूर्ण बीजराज दशा पर पहुँचा हुआ अविनमृक 'विन' हो जाता है। तेरहवें गुणस्थान में साधुकर्म, वेदनीय आदि भोगावली कर्मों को भोगता हुआ अन्तिम समय में चौदहवें गुणस्थान की भूमिका पार करता है और सदा के लिए धर,

अन्तर, विदेह कुछ 'मिश्र' बन जाता है ! मिश्र पद आना के विकास का अंतिम स्थान है । यहाँ आकर यह पूर्णता प्राप्त होती है, जिसमें फिर न कभी कोई विकास होता है और न हास !

सम्यक्संन्यस का क्या स्वरूप है और वह किस भूमिका पर प्राप्त होता है,— यह ऊपर के विवेचन पर से पूर्णतया स्पष्ट हो चुका है । संसार में सम्यक्संन्यस का सीधासादा अर्थ किया जाय तो वह 'वियेक राशि' होता है । तत्त्व और अस्तित्व का वियेक हो जाय तो सम्यक्संन्यस की ओर अग्रसर होता है । धर्म शास्त्रों में सम्यक्संन्यस के अनेक भेद प्रतिपादित किए हैं । उनमें मुख्यतया दो भेद अधिक प्रसिद्ध हैं—निरव्यय और व्यतीत । आध्यात्मिक विकास से उत्पन्न आत्मा को एक विशेष परिस्थिति, जो देव=आत्मे योग्य जीवात्मावादि तत्त्व को वास्तविक रूप में मानने की, और देव=मोक्ष के योग्य हिमा अस्तित्व आदि पापों के त्यागने की, और उत्प्रेषण=मरण करके योग्य सब विद्वान् आदि को मरण करके की अनिरूपित्व है, यह निरव्यय सम्यक्संन्यस है । व्यवहार सम्यक्संन्यस, महाअभाव होता है । अतः भुवः, भुवः और भुवः को त्याग कर भुवः, भुवः, और भुवः पर रह महा अभाव, व्यवहार सम्यक्संन्यस है । व्यवहार सम्यक्संन्यस, एक प्रकार से निरव्यय सम्यक्संन्यस का ही परिवर्तित रूप है । किसी स्थितिविशेष में साधारण व्यक्तियों का अनेका विशेष गुण किया शक्ति का विकास देव कर, उनके सम्यक्संन्यस में जो एक स्वभाव आनन्द को देववर्ती पाता हृदय में उत्पन्न हो जाता है, उसे महा कहते हैं । महा में महापुरुषों के मरण को आनन्द पूर्व स्वीकृति के साथसाथ उसके प्रति दुःख-दुःख का संसार भी है । अतः सर्वत्र में निषेध यह है कि—निरव्यय सम्यक्संन्यस अन्तरात्मा की भाँति है, जब वह मात्र अनुभव-मात्र है । वास्तव व्यवहार सम्यक्संन्यस की श्रुति महा पर है, जब वह तत्त्व राशि में भी अभावजन्य मिश्र है ।

वास्तव सम्यक्संन्यस पूरे में व्यवहार सम्यक्संन्यस का अर्थ किया गया है । यहाँ स्पष्टता यहाँ है कि—जिस को देव मानना, जिस को दुःख

और किस को धर्म ? साधक प्रतिज्ञा करता है कि—अरिहंत मेरे देव है, सच्चे साधू मेरे गुरु हैं, जिन प्ररूपित सच्चा धर्म मेरा धर्म है।

देव अरिहन्त

जैन धर्म में स्वर्गाय भोग खिलासी देवों का स्थान कुछ अर्थात्क एवं आदरणीय रूप में नहीं माना है। उन को पूजा, भक्ति या सेवा करना, मनुष्य की अपनी मानसिक गुलामी के सिवा और कुछ नहीं। जिनशासन आध्यात्मिक भावना प्रधान धर्म है अतः यहां भद्रा और भक्ति के द्वारा उपास्य देव वही हो सकता है, जो दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र के पूर्ण विकास पर पहुँच गया हो, संसार की समस्त मोह माया को त्याग चुका हो, केवल ज्ञान तथा केवल दर्शन के द्वारा भूत, भविष्यत, वर्तमान तीन काल और तीन लोक को प्रत्यक्ष रूप में हस्तामकर वत् जानता देखता हो। जैन धर्म का कहना है कि सच्चा अरिहंत देव वही महापुरुष होता है, जो अट्टारह दोषों से सर्वथा रहित होता है। अट्टारह दोष इस प्रकार हैं—

- | | |
|-------------------|---------------------------|
| १ दानान्तराय | २ लाभान्तराय |
| ३ भोगान्तराय | ४ उपभोगान्तराय |
| ५ वीर्यान्तराय | ६ हास्य=हँसी |
| ७ रति=प्रीति | ८ अरति=अप्रीति |
| ९ तुगुप्पा=पृष्ठा | १० भय=डर |
| ११ काम=विकार | १२ अज्ञान=भ्रमता |
| १३ निद्रा=प्रमाद | १४ अविरति=त्याग का अभाव |
| १५ राग | १६ द्वेष |
| १७ शोक=चिन्ता | १८ मिथ्यात्व=असत्य विरवास |

अन्तराय का अर्थ विघ्न होता है। जब उक्त कर्म का उदय होता है, तब दान आदि देने में और अभीष्ट वस्तु को प्राप्ति में विघ्न होता है। अपनी इच्छानुसार किसी भी कार्य का संपादन नहीं कर सकता।

परिहृत भगवान् का अन्तराय कर्म भय हो जाता है, फलतः दान, लाभ आदि में विघ्न नहीं होता ।

गुरु, निर्ग्रन्थ

जैन धर्म में गुरु का महत्व त्याग की कसौटी पर ही परखा जाता है । जो सत्पुरुष पाँच महाव्रतों का पालन करता हो, छोटे-बड़े सब जातों पर समभाव रखता हो, भिक्षावृत्ति के द्वारा आहार-यात्रा पूर्ण करता हो, पूर्ण मल्लघर्ष का पालन करता हुआ स्त्री जाति को छूता तक न हो, रुपया पैसा बुझ भी अपने पास रखता-रखाता न हो, किसी भी मोटर-वेज आदि को सवारी का उपयोग न कर हमें ऐसा पैदल ही विहार करता हो, यही सच्चे गुरुपद का अधिकारी है ।

धर्म, जीवदया आदि

सच्चा धर्म यही है, जिसके द्वारा अन्तःकरण शुद्ध हो, कामनाओं का सब हो, आत्म-गुणों का विकास हो, आत्मा पर से कर्मों का आच्छादन सब हो और अन्त में आत्मा अजर, अमर पद पाकर सदाकाल के लिए दुःखों से मुक्ति प्राप्त कर ले । ऐसा धर्म अहिंसा, सत्य, अस्तेय-चोरी का त्याग, मल्लघर्ष, अपरिग्रह-स्त-तोष तथा दान, शील, तप और भावना आदि है ।

सम्यक्त्व के लक्षण

सम्यक्त्व अन्तरंग की बात है जब उसका ठीक ठीक पता लगाना साधारण लोगों के लिए अग्राधिकार है । इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से केवल ज्ञान ही उपाय कह सकता है । तत्पश्चात् आत्मन में सम्यक्त्वकारी व्याकरण का प्रयोग करनेवाले हुए जीव दिग्ग ने बतलाए हैं, जिसने व्यवहार रूप में भी सम्यक् दर्शन को पहचान हा सकती है ।

१. २२ २. २३ ३. २४ ४. २५ ५. २६ ६. २७ ७. २८ ८. २९ ९. ३० १०. ३१ ११. ३२ १२. ३३ १३. ३४ १४. ३५ १५. ३६ १६. ३७ १७. ३८ १८. ३९ १९. ४० २०. ४१ २१. ४२ २२. ४३ २३. ४४ २४. ४५ २५. ४६ २६. ४७ २७. ४८ २८. ४९ २९. ५० ३०. ५१ ३१. ५२ ३२. ५३ ३३. ५४ ३४. ५५ ३५. ५६ ३६. ५७ ३७. ५८ ३८. ५९ ३९. ६० ४०. ६१ ४१. ६२ ४२. ६३ ४३. ६४ ४४. ६५ ४५. ६६ ४६. ६७ ४७. ६८ ४८. ६९ ४९. ७० ५०. ७१ ५१. ७२ ५२. ७३ ५३. ७४ ५४. ७५ ५५. ७६ ५६. ७७ ५७. ७८ ५८. ७९ ५९. ८० ६०. ८१ ६१. ८२ ६२. ८३ ६३. ८४ ६४. ८५ ६५. ८६ ६६. ८७ ६७. ८८ ६८. ८९ ६९. ९० ७०. ९१ ७१. ९२ ७२. ९३ ७३. ९४ ७४. ९५ ७५. ९६ ७६. ९७ ७७. ९८ ७८. ९९ ७९. १००

होनेवाले कदाग्रह आदि दोषों का उपशम होना 'प्रशम' है। सम्यग् दृष्टि आत्मा कभी भी दुराग्रहों नहीं होता ! वह असत्य को त्यागने और सत्य को स्वीकार करने के लिए हमेशा तैयार रहता है। एक प्रकार से उसका समस्त जीवन, सत्यमेव और सत्य के लिए ही होता है।

(२) सवेग—काम, क्रोध, मान, माया आदि सांसारिक बन्धनों का भय ही 'सवेग' है। सम्यग्-दृष्टि किसी भी प्रकार का भय नहीं करता। वह हमेशा निर्भय एवं निर्द्वन्द्व-रहता है। अकृष्ट दशा में पहुँच कर तो जीवन-मरण, हानि-लाभ, स्तुति-निन्दा आदि के भय से भी मुक्त हो जाता है। परन्तु यदि उसे कोई भय है तो वह सांसारिक बन्धनों का भय है। वस्तुतः वह है भी डीक। आत्मा के पतन के बिना सांसारिक बन्धनों से बढ़कर और कोई चीज नहीं है ! जो इन् से दूर रहेंगे, वही अपने को बन्धनों से आजाद बना सकेंगे।

(३) निर्वेद—विषय भोगों में आसक्ति का कम होजाना 'निर्वेद' है। जो मनुष्य भोग-वासना का गुलाम है, विषय की पूर्ति के लिए भयकर से भयंकर अत्याचार करने पर भी उतारू हो जाता है; वह सम्यग् दृष्टि किस तरह बन सकती है ? आसक्ति और सम्यग् दर्शन का तो दिन-रात का सा वैर है। जिस साधक के हृदय में संसार के प्रति आसक्ति नहीं है, जो विषय भोगों से कुछ उदासीनता रखता है, वही सम्यग् दर्शन की ज्योति से प्रकाशमान है।

(४) शत्रुकम्पा—दु खित प्राणियों के दु खों को दूर करने की बलवती इच्छा 'शत्रुकम्पा' है। सम्यग् दृष्टि साधक, संकट में पड़े हुए जीवों को देख कर विकल हो उठता है, उन्हें बचाने के लिए अपने समस्त सामर्थ्य को लेकर उठ खड़ा होता है। वह अपने दुःख से दूरना दु खित नहीं होता, जिनका कि दूसरों के दुःख से दुःखित होना है। जो लोग यह कहते हैं कि 'दुनिया मरे या जीवे, हमें क्या खेता-देना है ? मरते जीव को बचाने में पाप है, धर्म नहीं।' उन्हें सम्यक्त्व के उक्त शत्रुकम्पा-लक्षण पर लक्ष्य देना चाहिए। शत्रुकम्पा ही तो

नम्यत्व का परिपाक है। अनम्य बालकः जीवरक्षा तो कर सकता है, परंतु अनुकम्पा कभी नहीं कर सकता।

(५) आत्तिस्त्व—आत्मा आदि परोक्ष किन्तु आगम प्रमाण सिद्ध पदार्थों का स्वीकार ही आत्तिस्त्व है। साधक आखिरकार साधक ही है, सिद्ध नहीं। अतः वह कितना ही क्यों न प्रसरन्बुद्धि हो, परन्तु आत्मा आदि अरूपों पदार्थों को वह कभी भी प्रत्यक्षतः इन्द्रियमार्ग नहीं कर सकता। भगवद्वाणी पर विश्वास रखते बिना साधना की यात्रा नहीं हो सकती। अतः मुक्ति पथ में अधिक अग्रसर होते हुए भी साधक को आगमवाणी से अपना स्नेह सम्बन्ध नहीं तोड़ना चाहिए।

निष्प्यात्व-परिहार

सम्यक्त्व का विरोधी तत्त्व निष्प्यात्व है। सम्यक्त्व और निष्प्यात्व दोनों का एक स्थान पर होना असंभव है। अतः सम्यक्त्व धारी साधक का कर्तव्य है कि वह निष्प्यात्व भावनाओं से सर्वदा सावधान रहे। कहीं ऐसा न हो कि भ्रातृविषय निष्प्यात्व की धारणाओं पर चलकर अपने सम्यक्त्व को नखिन कर बैठे। संधेप में निष्प्यात्व के दश भेद हैं, इन्हें इनका ध्यान में रखना चाहिए।

(१) जिनको कंचन और कानिनी नहीं लुना सकती, जिनको प्रेतांतिक लोगों की प्रशंसा निन्दा आदि शुब्ध नहीं कर सकती, ऐसे सदाचारी साधुओं को साधू न समझना।

(२) जो कंचन और कानिनी के दास बने हुए हैं, जिनको सात्तांतिक लोगों से पूजा प्रतिष्ठा पाने की दिन रात इच्छा बनी रहती है, ऐसे साधु-बेराधारियों को साधू न समझना।

(३) घना, मार्दव, अजिह्व, शौच, सत्य, संपन्न, तप, त्याग, आर्तिबन्ध और मूलवर्ग-ये दश प्रकार का धर्म है। दुराग्रह के कारण वस्तु धर्म को अधर्म समझना।

(४) जिन कर्मों से अथवा विचारों से आत्मा को अधोगति होती

है, वह अधर्म है। अस्तु, हिंसा करना, शराब पीना, जुमा खेलना, दूसरों की बुराई सोचना इत्यादि अधर्म को धर्म समझना।

(४) शरीर, इन्द्रिय और मन-ये जड़ हैं। इनको आत्मा समझना, अर्थात् अजीव को जीव मानना।

(५) जीव को अजीव मानना। जैसे कि—गाय; बैल, बकरी आदि प्राणियों में आत्मा नहीं है, अतएव इनके मारने या खाने में कोई पाप नहीं है—ऐसी मान्यता रखना।

(७) उन्मार्ग को सुमार्ग समझना। शीतला पूजन, गंगास्नान, आदि आदि जो पुरानी या नई कुरीतियाँ हैं, जिनसे सचमुच हानि होती है, उन्हें ठीक समझना।

(८) सुमार्ग को उन्मार्ग समझना। जिन पुरानी या नयी प्रथाओं से धर्म की वृद्धि होती है, सामाजिक उन्नति होती है, उन्हें ठीक समझना।

(९) कर्म रहित को कर्म सहित मानना। परमात्मा में राग द्वेष नहीं है, तथापि यह मानना कि भगवान् अपने भक्तों की रक्षा के लिए ईश्वरों का नाश करते हैं और अमुक स्थितियों की तपस्वा से प्रसन्न होकर उनके पति बनते हैं, इत्यादि।

(१०) कर्म सहित को कर्म रहित मानना। भक्तों की रक्षा और शत्रुओं का नाश राग द्वेष के बिना नहीं हो सकता, और राग द्वेष कर्म सम्बंध के बिना नहीं हो सकते, तथापि मिथ्या आग्रह-वश यही मानना कि यह सब भगवान् की जीला है। सब कुछ करते हुए भी अखिप्त रहना उन्हें आता है और हमलिए वे अखिप्त रहते हैं।

सम्यक्त्व सूत्र का प्रतिदिन पाठ क्यों

अंत में एक प्रश्न है कि—जब साधक अपनी साधना के प्रारम्भिक काल में सर्व प्रथम एक बार सम्यक्त्व ग्रहण कर ही लेता है और तत्पश्चात् ही अन्य धर्म क्रियाएँ शुरू करता है, तब फिर उसका नियम प्रति पाठ क्यों? क्या प्रतिदिन नियम नई सम्यक्त्व ग्रहण करनी चाहिये?

उत्तर है कि सम्यक्स्य तो एक बार प्रारम्भ में ही ग्रहण की जाती है, रोजाना नहीं परंतु प्रत्येक सामायिक आदि धर्म-क्रिया के आरंभ में; रोजाना जो यह पाठ बोला जाता है, इसका प्रयोजन सिर्फ यह है कि—ग्रहण की हुई सम्यक्स्य की स्मृति को सदा ताजा रखा जाय । प्रतिदिन प्रतिज्ञा को दोहराते रहने से आत्मा में बल का संचार होता है, और प्रतिज्ञा नित्य प्रति अधिकाधिक स्पष्ट, शुद्ध एवं सबल होती जाती है ।

: ३ :

गुरु गुण स्मरण सूत्र

(१)

पंचिदिय-सवरणो,
तह नवविह-बभचेर-गुत्तिधरो ।
चउविह-कसाय-मुक्को,
इअ अठ्ठारसगुणेहि सजुत्तो ॥

(२)

पच-महुव्वय-जुत्तो,
पचविहायार-पालण-समत्थो ।
पच-समिओ तिगुत्तो,
छत्तीस-गुणो गुरु मज्झ ॥

शब्दार्थ

पंचिदिय-सवरणो=पांच इन्द्रियों को अर्थात् पांच इन्द्रियों के विषय
को रोकनेवाले, वश में करनेवाले ।

तह=तथा इसी प्रकार

नवविहबभ चेर गुत्तिधरो=नव प्रकार की प्रत्यक्ष की गुत्तियों
धारण करनेवाले

[illegible]

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

[illegible]

१८८५-१८८६ १८८६-१८८७ १८८७-१८८८ १८८८-१८८९ १८८९-१८९०
 १८९०-१८९१ १८९१-१८९२ १८९२-१८९३ १८९३-१८९४ १८९४-१८९५

二、

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

Figure 1

12

—

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. ९. १०. ११. १२. १३. १४. १५. १६. १७. १८. १९. २०. २१. २२. २३. २४. २५. २६. २७. २८. २९. ३०. ३१. ३२. ३३. ३४. ३५. ३६. ३७. ३८. ३९. ४०. ४१. ४२. ४३. ४४. ४५. ४६. ४७. ४८. ४९. ५०. ५१. ५२. ५३. ५४. ५५. ५६. ५७. ५८. ५९. ६०. ६१. ६२. ६३. ६४. ६५. ६६. ६७. ६८. ६९. ७०. ७१. ७२. ७३. ७४. ७५. ७६. ७७. ७८. ७९. ८०. ८१. ८२. ८३. ८४. ८५. ८६. ८७. ८८. ८९. ९०. ९१. ९२. ९३. ९४. ९५. ९६. ९७. ९८. ९९. १००.

[illegible]

निम्न

[illegible]

: ३ :

गुरु गुण स्मरण सूत्र

(१)

पचिदिय-सवरणो,
तह नवविह-वमचेर-गुत्तिपरो ।
चउविह-कमाय-मुक्को,
इअ अट्टारसगुणेहि सजुत्तो ॥

(२)

पच-महव्वय-जुत्तो,
पचविहायार-पालण-समत्थो ।
पच-समिओ निगुत्तो,
छत्तीम-गुणो गुरू मज्झ ॥

शब्दार्थ

पचिदिय-सवरणो=पांच इन्द्रियों को अर्थात् पांच इन्द्रियों के विषयों
को रोकनेवाले, यश में करनेवाले ।

तह=तथा इसी प्रकार

नवविहवम चेर गुत्तिपरो=नव प्रकार की प्रत्यक्ष की गुत्तियों को
धारण करनेवाले

चत्वारिंशत्पञ्चमुक्तो=चार प्रकार के कथाय से मुक्त

इति=इति

अष्टादशगुरो हि संयुक्तो=अष्टादश गुरों से संयुक्त

संच नवगुरो=सांच नहा प्रती से मुक्त

संचविंशत्पञ्चमुक्तो=सांच प्रकार का आचार पाउने में समर्थ

संच नवगुरो=सांच समितिवाले

संयुक्तो=सांच गुणवाले

संयुक्तगुरो=संयुक्त गुरोंवाले सच्ये त्यागो

नन्तु=नन्तु

गुरु=गुरु है

भाषार्थ

सच इन्द्रियों के वैयर्थिक वाचस्प को गेहनेवाले, प्रत्यक्ष मर को समर्थ गुरो को—नी राहों को धारण करनेवाले, कोष आदि चर प्रकार की कथाओं से मुक्त, सच नव अष्टादश गुरों से संयुक्त।

—अर्थात् आदि सच नवगुरो से मुक्त, सच आचार के सत्य करने में समर्थ, सच समिति और उक्त गुरो के धारण करनेवाले, अर्थात् एक कथाय गुरो से भी सच नन्तु गुरु है।

विवेचन

ननु सच का नवगुरो एवं अत्यन्त नन्तु, यो अत्यन्त एक इन चैतन्यो वाल चैतन्य-युक्त में कहीं भी नन्तु नहीं होय, सच हर किन्तो के चरों में मुक्त जाय ! नहीं, ऐसा नहीं हो सकय। ननु सच का नन्तु विचरों का सर्वभेद केन्द्र है। यह नन्तु, स्वयं और कोष दोनों दुविधा का सच है। स्वयं-अन्त में वे यो कुरु भी ईश्वर किन्ता सच है, सच उक्तों को अन्त है। अन्त यदि यह भी सच्ये अन्तों विचार सच्ये स्वयं हर किन्तो के चरों को अन्त स्वयं सच्ये सच्ये उक्तों को सच्ये

बनकर मनुष्य का और क्या पतन हो सकता है ?

शास्त्रकारों ने गुरुदेव की महिमा का मुक्त-कंठ से गुणगान किया है। उनका कहना है कि प्रत्येक साधक को गुरु के प्रति असीम भक्ति और भक्ति का भाव रखना चाहिए। भक्ता जो मनुष्य प्रत्यक्ष मित्र महान् उपकार करनेवाले एवं माया के दुर्गम पथ से पार कर संयम पथ पर पहुँचानेवाले अपने आराध्य सद्गुरु का ही भक्त नहीं है, वह परोक्ष-मित्र भगवान् का भक्त कैसे हो सकेगा ? साधक पर गुरुदेव का इतना विश्वास क्यों है कि उसका कभी बदला चुकाया ही नहीं जा सकता। संक्षेप में गुरु की महत्ता अपरम्पार है ; अतः प्रत्येक धर्म-साधना के प्रारम्भ में गुरुदेव को धरती भक्ति के साथ अभियोग्य करना चाहिए। परन्तु प्रश्न है, कौन-सा गुरु ? किसके शरणों में समस्कार ?

आज समग्र में, विशेष कर भारत में, गुरु-रूप-धारी शिष्य पट्टियों की कोई साधारण-सी सीमित संख्या नहीं है। विध्वंस दौलत उधर हो गला-गली में सैकड़ों गुरु नामधारी महापुरुष घूम रहे हैं, जो भोले-भांके भक्तों को जाल में फँसाने हैं, भद्र महिलाओं के उन्नत जीवन को आहूतों के बहम में नष्ट करने हैं। जहाँ तक दूसरे कतलों की गौरव रूप में रक्खा जाय, भारत के पतन का यदि कोई मुख्य कारण है तो वह गुरु ही है। भक्ता जो दिन-रात भोगविज्ञास में लगे रहते हैं, चढ़ावे के रूप में बही-मे-बही में रेंते खेते हैं, राजाओं का-या डाट-बाट सम्राट् प्रांत-वर्ग काश्मीर एवं नैनीताल आदि की भेंट करते हैं, मान-मझीदा करते हैं, इतर-कुछेख खगलते हैं, नाटक-चित्रमा देखते हैं, गाजा, भेंट, मुक्क्या आदि मादक पदार्थों का सेवन करते हैं, और मोटरों पर चढ़े दौड़ते हैं, उन गुरुओं से देश का क्या भला हो सकता है ? जो स्वयं चंडा हो, वह दूसरों को क्या साध मार्ग दिखाएगा ? अतएव प्रस्तुत सूत्र में बतलाया है कि—सत्ये गुरु कौन है ? किनको सम्मन करना चाहिए ? अनेक साधक को वह प्रवृत्ति होना चाहिए कि—'वह' मृत्योक्त दर्शन गुरुओं के धर्मा महारमाओं को ही अपना धर्म-गुरु मानेगा, अन्य संन्यासी

में नहीं।' गुरु-यन्दन से पहले उक्त प्रतिज्ञा का संस्मरण करना एवं गुरु के-गुणों का संकल्प करना अत्यावश्यक है; अतएव इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह सूत्रपाठ, सामायिक करते समय यन्दन से पहले पढ़ा जाता है।

पाँच इन्द्रियों का दमन

जोवान्ता को संसार सागर में डुलाने वाली पाँच इन्द्रियाँ हैं—
 पाँच इन्द्रिय=वक्त्र, रसन इन्द्रिय=चिह्ना, प्राण इन्द्रिय=शक्ति, चक्षु इन्द्रिय=बोले और धीरे इन्द्रिय=जान। पाँचों इन्द्रियों के मुख्य विषय ज्ञान इत प्रकार हैं—स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द। साथ ही का ज्ञान है कि यह उक्त विषयों पर यदि धिय हो तो राग न करे, यदि मित्र हो तो द्वेष न करे, प्रयुक्त समनार से प्रवृत्ति करे।

नवविध-महत्त्व

पाँच इन्द्रियों की संयोजिता होकरने से महत्त्व मनुष्य का पावन करने का हो जाता है। तथापि महत्त्व मनुष्य को अधिक लक्ष्य के साथ लक्ष्य पावन करने के लिए साध्य में नव गुणों रखता है। नव गुणों को साधारण भक्त में पाए भी सकते हैं। जिन प्रकार पाँच इन्द्रियों की संयोजिता का ही है, उसी प्रकार नव गुणों भी महत्त्व मनुष्य का संयोजित करता है।

(१) निवेदन-विषय—एकान्त स्थान में निवास करना। स्थान, पुरुष, और बुद्धि तीनों को ध्यान में रखकर होना है, जहाँ महत्त्व के लक्ष्य के लिए उक्त तीनों से रहित एकान्त स्थान स्थान में निवास करना चाहिए।

(२) लक्ष्य-विषय—लक्ष्यों की कथा का प्रतिपादन करना। लक्ष्य से नजदिक वहाँ लक्ष्यों को पावे, बुद्धि, रूप और वेद-विद्या के ध्यान से है। जिन प्रकार कीर्ति के ध्यान में विद्या में से लक्ष्य

नद निकलता है, उसी प्रकार स्त्री-कथा से भी हृदय में वायना का प्रसरण बढ़ निकलता है।

(३) निगानुपवेशन—निपट्टा वाली स्त्री के बैठने की जगह, उस पर नहीं बैठना। शास्त्र में कहा है कि—त्रिष्व स्थान पर स्त्री बैठी हो, उसके उठ जाने के बाद भी दो घड़ी तक मल्लकारी को वहाँ नहीं देखना चाहिए। कारण कि—स्त्री के शरीर के संयोग से वहाँ उत्पन्न हो जाती है, वायना का वायुमण्डल तैयार हो जाता है, अतः बैठने वाले के मन में विद्वग्धता आदि दोष पैदा हो सकते हैं। आज कल के वैज्ञानिक भविष्यत के नाम से इन परिस्थिति को स्वीकार करते हैं।

(४)—इन्द्रियाभ्यास—स्त्री के अंगोपाङ्ग मुख, नेत्र, हाथ, पैर आदि की ओर देखने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। यदि प्रसंग यह उत्पन्न दृष्टि पड़ भी जाय तो शीघ्र ही हटा लेनी चाहिए। सौंदर्य के दृश्यन से मन में मोहनी जागृत होगी, कामवासना उठेगी, और अन्त में ब्रह्मचर्य व्रत के संग की आशंका भी उत्पन्न हो जायगी। त्रिष्व प्रकार मूर्ख की ओर देखने से स्त्रियों का नेत्र पटला है, उसी प्रकार स्त्री के चोखे पागो की देखने से ब्रह्मचर्य का बल निर्वल हो जाता है।

(५) इन्द्रियनिरास—एक दीवार के अन्तर में स्त्री पुरुष रहने को नहीं नहीं रहना। हृदय का चर्च दीवार है, अन्तर का चर्च दूर से है, और शरीर का चर्च स्त्री-पुरुष युगल है। पास रहने से अज्ञान आदि के वचन सुनने से काम जागृत हो सकता है। चर्चन पास रहा हुआ साम विपन्न हो जाता है।

(६) आशुतन्मूल—बहुधा काम प्रीतिपूर्ण का स्मरण न करना ब्रह्मचर्य पालन करने के पक्ष में वायना का जीवन रहा है, जिससे कि पाप सामाजिक सम्बन्ध कायम रहा है, इसको भली हो जाने के बाद कभी भी अपने व्यवसाय में नहीं जाना चाहिए। वायना का चेतन बल अक्षय है। मूल वायनाई भी जरा सी स्मृति या जाने पर पुनर्जीव हो उठती है और वायना को अच्छे-अच्छे कर हाथी है। मारक वस्तु

का नया सृष्टि के द्वारा जागृत होता हुआ सर्व साधारण में प्रसिद्ध है।

(३) प्रोक्ताभोजन—प्रोक्ता का अर्थ अति स्निग्ध है, अतः प्रोक्ता भोजन का अर्थ हुआ कि जो भोजन अति स्निग्ध हो, कानोचेजक हो, वह मलबारी को नहीं खाया चाहिए। पौष्टिक भोजन में शरीर में जो कुछ विषय-वातना की विहतिर्पा उत्पन्न होती है, उन्हें हर कोई स्वाभु-भर से जान सकता है। जिस प्रकार मज्जिराव का रोग घों खाने से भयंकर रूप धारण कर लेता है, उन्ही प्रकार विषय-वातना भी घों आदि पौष्टिक पदार्थों के अमयीदित सेवन में बढ़क उठती है।

(४) प्रोक्ताभोजन—प्रोक्ता में अधिक भोजन नहीं करना। भोजन का संयम, मलबर्ष की रक्षा के लिए समयावश्यक है। भूख से अधिक भोजन करने से शरीर में आलस्य पैदा होता है, मन में संक-लता होती है, और अन्त में इन सब बातों का अन्तर मलबर्ष पर पड़ता है।

(५) विनूय परित्यजन—विनूय का अर्थ अलंकार एवं धृंगार होता है, और परित्यजन का अर्थ त्याग होता है, अतः विनूय अर्थ 'धृंगार का त्याग करना' हुआ। स्नान करना, इतर-कुजेज लगाना, भड़कदार वस्त्र पहनना, शरादि कार्यों में घरने मनमें भी सौन्दर्य की भावना जागृत होती है और देखने वालों के मन में भी मोह का उद्भेक हो जाता है। कुन्हार को लाज लन निजा, साफ करके दुप्पर पर रख दिया। सूर्य के प्रकाश में उन्ही ही घनका, नान मनक का चोख उठाकर ले गई। धृंगार-मेनी नाच के मलबर्ष का भी यही हाल होता है।

चार कपाय का त्याग

कर्म कथ का मुख्य कारण बताया है। कपाय का शाब्दिक अर्थ होता है—'कप=मनार x कपाय=जाय।' अर्थात् जिसमें मनार का जाय हो, यन्मन्ार का चक बाता हो, वह कपाय है। मुख्य रूप से कपाय के चार प्रकार हैं—

(४) सर्व परिकर विमल—सब प्रकार से परिकर (धन-धान्य आदि) का स्वाध करवा, सम्यक् सहायक है। अधिक जो भन्ना कौही भाव धन भी अपने पास न रक्खा, न दूसरों के पास रखवाया और न रखने वालों का अनुमोदन करना। संयम की साधना के उपयोग से चाहे चाहे अवरुद्ध करवा-या आदि पर भी सुस्थिभाव न रक्खा।

पाँचों ही महात्म्यों में सब, वचन और शरीर तथा करवा करवा और अनुमोदन करना—सब सिद्ध कर सब कठिने से कठिन दिक्कत आदि का स्वाध किया जाता है। महात्म्य का कार्य है—महात्मा न। महात्म्यो साधू हो हो सकता है। गुरुत्व-अर्थ में सर्व के स्थान पर स्थूल रूप का प्रयोग किया जाता है। इसका यह अर्थ है कि गुरुत्व अवरुद्ध रूप से स्थूल दिक्कत, स्थूल अभाव आदि का स्वाध करता है। सब गुरुत्व के वे पाँच अस्तुत करवाते हैं—अन्तु का सर्व शोभा होता है।

पाँच आचार

(१) शान्त-शान्त स्वर्ग रक्खा और दूसरों को रक्खा, शांति के आचरण शास्त्र आदि स्वर्ग जिकिया तथा शांति महती की रक्खा करना, एवं शांति आचरण करने वालों को तथा योग सहायका मदत करना—यह सब शांति-आचार है।

(२) दृढ-दृढता का अर्थ सम्यक्त्व है, सब सम्यक्त्व का स्वर्ग रक्ख करना, दूसरों से रक्ख करवाता, तथा सम्यक्त्व से अन्त होवे चाहे आचरणों की दृष्टि आदि से सम्यक्त्व का पुन सम्यक्त्व से रक्ख करना—यह सब दृढ-आचार है।

(३) शान्त-शान्त—अहिंसा आदि दृढ आचरण का स्वर्ग रक्ख करना, दूसरों से रक्ख करवाता तथा दृढता करने वालों का अनुमोदन करना। शांति-आचार का अहिंसा करने अहिंसा का अहिंसा होने का अहिंसा आचरण है।

(४) शान्त-शान्त—यह सब आचरण होने ही ६४ का अर्थ

स्वयं करना, दूसरों से कराना, करने वालों का अनुमोदन करना। व सब तपः साधना, तप आचार है। बाह्य तप धनदान=दण्डवाप आदि है, और अन्त्यन्तर तप स्वाध्याय, ध्यान, विनय आदि है।

(५) शीर्षाचार—धर्मानुष्ठान (प्रतिक्रमण, प्रतिबोधन, स्वाध्याय आदि) में अपनी शक्ति का उपयोगकर उचित से उचित प्रयोग करना। कदापि भावस्थ आदि के वश धर्मापन में अन्तराप नहीं डालना। अपनी मानसिक, धार्मिक तथा शारीरिक शक्ति को दुराचरण से हटाकर सदाचरण में लगाना—शीर्षाचार है।

पांच समिति

समिति का शाब्दिक अर्थ होता है—'सम्=सम, रूप से + इति=जाना अर्थात् प्रवृत्ति करना।' यद्विधार्थ यह है कि—बोलने में, सोचने में, व्यवहार आदि की गवेषणा में, किसी वस्तु को लेने या रखने में, मन्त्र-मूत्र आदि को पढ़ने में सम्यक् रूप से भर्पादा रखना, अर्थात् गमनादि किसी भी क्रिया में विवेकयुक्त सीमित प्रवृत्ति करना, समिति है। संक्षेप में समिति के पांच भेद हैं—

(१) ईर्ष्या समिति—ईर्ष्या का अर्थ गमन होता है, अतः किसी भी जीव को पीढ़ा न पहुँचे—इस प्रकार सावधानता पूर्वक गमनागमनादि क्रिया करना, ईर्ष्या समिति है।

(२) भाषा समिति—भाषा का अर्थ बोलना है, अतः सरप, द्वि-कारी, परिमित तथा सन्देह रहित, मृदु वचन बोलना भाषा समिति है।

(३) एषणा समिति—एषणा का अर्थ खोज करना होता है, अतः जीवन यात्रा के लिए आवश्यक आहारादि साधनों को उठाने की सावधानता पूर्वक निरवयव प्रवृत्ति करना एषणा समिति है।

(४) आदाननिक्षेप समिति—आदान का अर्थ ग्रहण करना और निक्षेप का अर्थ रखना होता है, अतः अपने पात्र पुस्तक आदि वस्तुओं को भली भाँति देख-भाळ कर, प्रमादजन करके लेना अथवा रखना, आदान निक्षेप समिति है।

भावार्थ

भगवन् ! दाहिनी ओर से प्रारंभ करके पुनः दाहिनी ओर तक अंग की तीन बार प्रदक्षिणा करता है ।

चन्दना करता है, नमस्कार करता है, स्तुकार करता है, सम्मान करता है ।

आय कल्पयुक्त रूप है, मंगल रूप है । आय देवता-स्वरूप है, चैतन्य-स्वरूप=ज्ञान-स्वरूप है ।

गुरुदेव ! आयकी (मन, वचन और शरीर से) पूज्य-पूजना=सेवा-निष्ठ करता है । विनय-पूर्वक मस्तक झुकाकर आपके चरणकमलों में चन्दना करता है ।

विवेचन

आध्यात्मिक-साधना के क्षेत्र में गुरु का पद बहुत ऊँचा है । कोई भी दूसरा पद इस की समानता नहीं कर सकता । गुरुदेव हमारी जीवन-नीका के नाविक हैं, अतः वे संसार-समुद्र के काम, क्रोध, मोह आदि भयंकर आवलों में से हमें सकुशल पार पहुँचाते हैं ।

आय जानते हैं—जब घर में अन्धकार होता है, तब क्या दशा होती है ? किन्तनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है । ओर ओर सेड में का, रस्मी और सूर्य में का विवेक नष्ट हो जाता है । अन्धकार के कारण इतना विपर्याय होता है कि कुछ पृथिवी ही नहीं । सन्-धरम का कुछ विवेक ही नहीं रहता । ऐसी दशा में दीपक का किन्तना महत्व है । यह सद्गुरु ही समय में आ सकता है । ज्यों ही अन्धकार में दीपक जगमगा उठता है, चारों ओर शुभ प्रकाश फैल जाता है, वो किन्तना आनन्द होता है ! प्रत्येक वस्तु ठीक अपने रूप में दिखाई देने लगती है । सूर्य और रस्मी, सेड और ओर स्पष्टतया सामने आने लगते हैं । जीवन में प्रकाश की किन्तनी आवश्यकता है ।

नगरी के बाहर उद्यान में पधारे हैं तो पुत्र जन्म का महोत्सव चक्ररत्न पाने के कारण होने वाला अपना चक्रवर्ती पद-महोत्सव को और सब से पहले मनु के दर्शन को पहुँचा । इसे कहते हैं-वासा देना । यदि गुरुदेव का आगमन सुनकर भी मन में उत्साह जागृत हो, संसारी कामों का मोह न छूटे, तो यह गुरुदेव का अपमान है और जहाँ इस प्रकार अपमान है, वहाँ भ्रष्टा कैसी और भक्ति कैसी आशंक के उन साधकों को इस शब्द पर विशेष सावधान्य चाहिए जो गुरुदेव के यह पूछने पर कि 'भाई व्याख्यान आदि सुनने कैसे आए, तब कहते हैं कि—'भजी काम लगा रहा, न आ सका । और तो यह भी कहते हैं कि 'भजी काम याम तो कुछ नहीं था, वो आखिर में पड़े रह गए ।' यह अपमान नहीं तो क्या है ?

'कल्याण' का संस्कृतरूप कल्याण है । कल्याण का स्वरूप धर्म, कुशल, राजी सुखी होता है, परन्तु हमें जरा गहराई में उतरा चाहिए ।

अमर कोष के मुद्रमिद टीकाकार एवं महा वैद्याकरण भट्टोजी दीपिक के मुद्रम भी भानुजी दीपिक कल्याण का अर्थ—वातःस्मरणीय करते हैं—'कल्पे प्रातःकाले शयने भयने इति कल्याणम्' अमर कोष ११।१५ उक्त संस्कृत म्युत्पत्ति का हिन्दी में यह अर्थ है—वातःकाल में जो पुष्प जाता है, वह वातःस्मरणीय । कल्प x घण देसा शब्द विभाग है कल्प का अर्थ वात काल है, और घण शब्द धानु है । यह अर्थ बहुत ही सुन्दर है । रात्रि के गहन शयनकार का नाश होते ही ज्यों ही सुबह उठता होता है और मनुष्य निद्रा से जाग उठता है, तब वह पवित्र आत्माओं का शुभनाम सर्व प्रथम स्मरण करता है । गुरु देव का नाम इसके बिना पूर्वतया उचित है अतः गुरु देव सर्व अर्थ में कल्याण है ।

कल्याण का एक और अर्थ आचार्य हेमचन्द्र करते हैं । उनका मत भी सुन्दर है । 'कल्प नोदक्यममनीति' अमि० १।८६ । कल्प का अर्थ है बीरोगता=स्वस्थता, जो मनुष्य को बीरोगता प्रदान करता है ।

साम्प्रदायिक विवाद है। कुछ विद्वान् चैत्य का अर्थ ज्ञान करते हैं, इस परम्परा के अनुयायी स्थापकवादी हैं। दूसरे विद्वान् चैत्य का अर्थ प्रतिमा करते हैं, इस परम्परा के अनुयायी श्वेतान्तर मूर्तिपूजक हैं। चैत्य शब्द अनेकायं है, अतः प्रसंगानुसार ही इसका अर्थ ग्रहण किया जाता है। विचारना है कि यहां प्रस्तुत प्रसंग में कौनसा अर्थ अभिप्रेत है।

चैत्य का ज्ञान अर्थ करने में तो कोई विवाद ही नहीं है। ज्ञान-प्रकृत का वाचक है, अतः गुरुदेव को ज्ञान कहना, प्रकृत शब्द से सम्बोधित करना, सर्वथा औचित्यपूर्ण है। चित्तों में रहने धातु से चैत्य शब्द बनता है, जिसका अर्थ ज्ञान है।

चैत्य का दूसरा अर्थ प्रतिमा भी यहां प्रयुक्त हो है, प्रयुक्त नहीं। मूर्तिपूजक विद्वान् भी यहां चैत्य का अभिप्रेत अर्थ मूर्ति न करके, बहसा द्वारा मूर्ति-सार पृथक् अर्थ करते हैं। जिस प्रकार किसी मूर्ति-पूजक मन्थ के अनुयायी को करने इष्टदेव की प्रतिमा आदरार्थक एवं सत्कारार्थक होती है, उसी प्रकार गुरुदेव भी सत्कारार्थक हैं। यह उरना ही उरना लौकिक पदार्थों की भी हो जा सकती है, इनमें किसी सम्प्रदाय विशेष का अभिन्नत मन्थ एवं धनमन्थ नहीं हो जाता। स्थापकवादी यदि यह अर्थ स्वीकार करें तो कोई आशय नहीं है। क्या हम मन्तर में लोगों को करने करने इष्ट देव-प्रतिमाओं का आदर सत्कार करते नहीं देखते हैं ? क्या उरना देने में भी कुछ दोष है ? यहां कार्यका की प्रतिमा के मार तो नहीं कहा है और न श्वेतान्तर मूर्तिपूजक आचार्यों ने ही यह माना है। देखिये प्रमथदेवमूर्ति भगवता मृत् को टोका में क्या उल्लेख है ? — चैत्य मन्त्रोक्तं चैत्यमिति चेत् — मृत् भगवता — भा० २ श० १८० यह भगवता का स्थल भगवत् महावीर में सम्बन्ध रखता है। जब सत्कार भगवान् को करना करने समय उनको उबका हो मूर्ति के मार जाना कहीं उचित है। अन्तु लोक प्रयुक्त उरना देना ही क्या अभिप्रेत है।

: ५ :

आलोचना सूत्र

इच्छाकारेण संदिनह भगवं !

इरियावहियं पडिस्कनामि ?

इच्छं । इच्छामि पडिस्कनिउं ॥१॥

इरियावहियाए, विराहणाए ॥२॥

गमजागमणे ॥३॥

पाणक्कनणे, बीयक्कनणे, हरिप्पक्कणणे,

ओत्ता.उत्तिग-पणग-दग-मट्टी-मक्कडासंतताणा-संकमणे ॥४॥

जे मे जीवा विराहिया ॥५॥

एणिदिया, वेरुदिया, तेइदिया, चउरिदिया, पचिदिया ॥६॥

अभिहया, वत्तिया, लेत्तिया, मंघाइया,

संघट्टिया, पणियाविया, किलामिया, उइविया,

ठाणाओ ठाण नजानिया, जीवियाओ ववरोविया,

तत्त निच्छा मि दुक्खड ॥७॥

सुन्दरार्थ

भगवं=दे भगवन् !

संदिनह=राश्ट्रा दीविद्

इच्छाकारेण=इच्छापूर्वक

[ताळि]

का निरोध किया है, वह दुर्भावना से उठाने का निरोध है। किन्तु दया की दृष्टि ने किन्तो पंडित जी को, यदि धूप से ज्ञान में अग्रगण्य ज्ञान से धूप में उठाना हो, किया सुरक्षित स्थान में पहुँचाना हो तो वह हिंसा नहीं, प्रत्युत अहिंसा एवं दया ही होती है।

प्रस्तुत सूत्र में खेतिपा और संवटिया पाठ आता है। खेतिपा का अर्थ जीवों की भूमि पर मनहरी और संवटिया का अर्थ जीवों को स्वयं करना है। इस पर प्रश्न है कि जब राजाद्वारा से कौड़ी छादि छोटे जीवों को पूँजे है, तब क्या वे भूमि पर पसोंटे नहीं जाते और स्वयं नहीं किए जाते ? राजाद्वारा के इतने बड़े भार को वे मृच्छकास जीव पिचारे किन प्रकार सहन कर सकते हैं ? क्या यह हिंसा नहीं है ? उत्तर में क्लृप्ता है कि हिंसा धर्मरूप होती है। परन्तु यह हिंसा, यही हिंसा को निरुक्ति के लिए धर्मरूपक है। धर्म मार्ग से जाते हुए छोटी छादि जीवों को स्वयं ही पूँजना, रोकना, स्वयं करना जैन धर्म में निषिद्ध है। परन्तु कहीं धर्मरूपक धर्म से जाना हो, और वहाँ बाँच में जीव हो, उनको और किसी तरह बचाना धर्मरूप हो, तब उनकी प्राण रक्षा के लिए, यही हिंसा से बचने के लिए पूँजने के रूप में थोड़ा सा कष्ट पहुँचाना पड़ता है। और यह कष्ट या हिंसा, हिंसा नहीं, एक प्रकार से अहिंसा ही है। दया को भावना से की जाने वाली मृच्छ हिंसा को प्रवृत्ति भी निर्वरा का कारण है। क्योंकि हमारा विचार दया का है, हिंसा का नहीं। अवश्य शास्त्रकारों ने प्रभावार्जन किया में संसार और निर्वरा का उल्लेख किया है, उस कि प्रभावार्जन में मृच्छ हिंसा धर्मरूप होती है। अतः ज्ञान देख सकते हैं कि हिंसा के होते हुए भी निर्वरा हुई या नहीं ? तब ही प्रभावार्जन को उक्त विषय पर जरा संश्लेषता से विचार करना चाहिए। भावका मूल्य बहुत बड़ा है।

आलोचना के रूप में प्रेष्य धर्माचार को शुद्धि के लिए केवल हिंसा को ही आलोचना का उल्लेख क्यों ? मनस पाठ में केवल हिंसा को ही आलोचना है, अनर्थ आदि दोषों को क्यों नहीं ? उदय शुद्धि के लिए

तो सभी पापों की आलोचना आवश्यक है न ? उक्त प्रश्नों का सम्-
धान यह है कि-संसार में जितने भी पाप हैं, उन सब में हिंसा ही मुख्य
है। अतः 'सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्नाः'—इस श्लोक के अनुसार सब के
सब असत्य आदि दोष हिंसा में ही अन्त भूत हो जाते हैं। यह
हिंसा के पाप में शेष सभी क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, ईर्ष्या
आदि पापों का समावेश हो जाता है। किस प्रकार समावेश होता
इसके लिए जरा विचार श्रेष्ठ में उत्तरिए। हिंसा के दो भेद हैं—स्वहिंसा
और परहिंसा। स्वहिंसा यानी अपनी, अपने आत्म-गुणों की हिंसा
और पर हिंसा यानी दूसरे की, दूसरेके गुणों की हिंसा। किसी जीव
पीड़ा पहुँचाने से प्रत्यक्ष में उस जीव की हिंसा होती है। और पी
पाते समय उस जीव को राग द्वेष आदि की परिणति होने से उस
आत्मगुणों की भी हिंसा होती है। और इधर हिंसा करने वाला क्रोध,
मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि किसी न किसी प्रमाद के बलवत्
होकर ही हिंसा करता है; अतः वह आध्यात्मिक दृष्टि से नैतिक पक्ष
रूप अपनी भी हिंसा करता है एवं अपने मत्स्य, शीख, नग्नता आदि
आत्मगुणों की भी हिंसा करता है। अतः स्पष्ट है कि स्वहिंसा के क्षेत्र
में सभी पापों का समावेश हो जाता है।

प्रस्तुत पाठ का नाम ऐर्ष्या पथिकी सूत्र है। श्री नमि साधु ने इसका
अर्थ किया है—'ऐर्ष्या-ईर्ष्या-गमनमित्यर्थः, तद्विधानं यस्या ईर्ष्यापक्ष-
मया विराधना, ऐर्ष्या पथिकी'—प्रतिक्रमण सूत्र वृत्ति। ईर्ष्या का अर्थ
गमन है, गमन युक्त जो पथ-मार्ग वह ईर्ष्यापथ कहलाता है। ईर्ष्यापथ
में होने वाली क्रिया—विराधना ऐर्ष्यापथिकी होती है। मार्ग में इधर
उधर जाते जाते जो हिंसा असत्य आदि क्रियाएँ हो जाती हैं, उन्हें
ईर्ष्यापथिकी कहा जाता है। आचार्य हेमचन्द्र एक और भी अर्थ करते
हैं—'ऐर्ष्यापथ साध्याचारः तत्र मया ऐर्ष्यापथिकी'—योगशास्त्र स्वात्म
वृत्ति ३ प्रकाश। आचार्य भी का अभिप्राय है कि ईर्ष्यापथ साधु-अर्थ
आचार को कहते हैं और उसमें जो पाप—काङ्क्षमादू लगी हो उनका

पेंवांसपिकी कहा जाता है। उक्त कालिना की शुद्धि के लिए ही प्रस्तुत पाठ है।

प्रश्न है, केवल 'निष्ठा नि दुष्कर्म' कहने से पापों की शुद्धि किस प्रकार हो जाती है? क्या यह जैनों की सोचा है, जो सोचते ही गुनाह माफ हो जाते हैं? याव, जरा विचारने को है। केवल 'निष्ठा नि दुष्कर्म' पाप दूर नहीं करता। पाप दूर करता है—निष्ठा नि दुष्कर्म शब्दों से स्पष्ट होने वाला साधक के हृदय में रहा हुआ परचात्ताप। परचात्ताप की शक्ति बहुत बड़ी है। यदि निष्प्राण रूढ़ि के फेर में न पड़कर, शुद्ध हृदय के द्वारा अन्दर की गहरी लगन से पापों के प्रति पूरा प्रकट की जाय, परचात्ताप किया जाय तो अवरय ही पाप कालिना धुल जाती है। परचात्तापका विमल वेगशाली करना, अन्तरात्मा पर जमे हुए शोष रूप बूढ़े करकट को बहाता हुआ दूर फेंक देता है, आत्मा की शुद्ध परिग्रह बना देता है।

श्री भद्रबाहु स्वामी ने आयरयक पर एक विशाल नियुक्ति ग्रन्थ लिखा है। उसमें 'निष्ठा नि दुष्कर्म' के प्रत्येक अक्षर का निरर्थक अनुष्ठान विचारों को लेकर, बड़े ही भाव-भरे ढंग से किया है। वे लिखते हैं—

'मे' ति निड-भद्रवसे,
'तु' ति दोषस्य हृदये रोदः।
'नि' ति अ नेराह ठिष्ठा,
'दु' ति दुष्कृतानि अप्पार ॥६८६॥
'क' ति कर्म म पाप,
'र्म' ति उद्वेग म उद्वेगस्य।
एते निष्ठा नि दुष्कर्म—
उद्वेगस्यो मम तेन ॥ ६८७ ॥

—अ. १२४८ नियुक्ति

साधारण की भावार्थ जैनेन्द्रिय नाम करारन—साध के अनुष्ठान

यह जिनगुदा का अभिनय है। तदनन्तर दोनों गुरने भूमि पर बैठ का, दोनों हाथों को कमर के मुकुट की तरह जोड़ कर, मुख के आगे रख कर, दोनों हाथों की कोहलियाँ पैर के ऊपर रख कर, योग मुद्रा में अभिनय करता चाहिए। परन्तु मधुर स्वर में 'इन्द्रा कारेश वासना मे पति नन्दमाम' तक का पाठ पढ़ना चाहिए। यह आशोचना के लिए आज्ञाप्ति का मूल है। गुरुदेव को घोर से आज्ञा मिल जाने पर 'इन्द्र' कहना चाहिए। यह आज्ञा की स्वीकारता का सूचक है। इसके अनन्तर गुरु के समक्ष ही उकटू आसन में बैठ कर या अर्ध हाँक 'इन्द्र न पति नन्दमाम' से लेकर सिद्धामे ट्राई तक का पूर्ण पाठ पढ़ना चाहिए। गुरुदेव न हों तो भगवान का ध्यान करके उनकी आज्ञा में ही पूर्ण या उगल की ओर मुक्त करके अर्ध हाँक कर यह पाठ पढ़नेना चाहिए।

आचार्य दीक्षाकारी ने प्रस्तुत मूल में सात संवदाओं की शरणा का है। संवदा का अर्थ विराम एवं विधाम्नि होता है।

प्रथम अन्तुगमन संवदाई, जिन का अर्थ गुरुदेव से आज्ञा अर्थात्

दृष्टा निमित्त संवदा है, जिनमें आज्ञाचना का निमित्त शरीर का विराजना बताया जाता है।

द्वितीय आप-सामान्य दृष्ट संवदा है, जिनमें सामान्य रूप से विराजना का कारण मूर्च्छित किया है।

तृतीय उपर-विशेष दृष्ट संवदा है, जिनमें गालकमल की ओर, और उपर-विशेष के विशेष दृष्ट कथन किए हैं।

चतुर्थ संवद संवदा है, जिनमें वे स जीवा विराजना-दृष्ट रूप से ही सच जीवा की विराजना का संवद किया है।

पंचम संवद संवदा है, जिनमें वे स प्रदत्त दृष्ट जीवा के संवद रूप का है।

षष्ठी विराजना संवदा है, जिन में समिद्धा चाँद आ-सं क उक्त रूप का है।

: ६ :

उत्तरी करण वृष

तन्म

उत्तरी करणेणं

पापक्षित्त करणेण

विमोही करणेणं

वितल्ली करणेण

पावाण कन्नाणं

निम्पावणदुए

उत्ति वाउत्तणं ।

सन्दायं

उत्त—उत्तरी; दूरेव छात्रा की

उत्तरी करणेण—विशेष उद्दिष्टता के लिए

पापक्षित्त करणेण—पापक्षित्त करने के लिए

विमोही करणेण—विमोहि करने के लिए

वितल्ली करणेण—वितल का स्थापन करने के लिए

पावाण—पाप

कन्नाण—कर्मों का

निम्पावणदुए—बाल करने के लिए

वाउत्तण—वाउत्तण

उत्ति—अथवा है

भावार्थ—

आत्मा को विशेष उत्कृष्टता-श्रेष्ठता के लिए, प्रापञ्चित के लिए, विशेष निर्मलता के लिए, शल्परहित होने के लिए, पाप कर्मों का पूर्णतः विनाश करने के लिए मैं कायोत्सर्ग करता हूँ—अर्थात् आत्मनिकाश को प्राप्ति के लिए शरीर सम्बन्धी समस्त चंचल व्यापारों का त्याग करता हूँ, मिश्रित चिन्तन करता हूँ ।

विवेचन

यह उभरी करण मूल है । इसके द्वारा देवांपरिक प्रतिक्रमण से कुछ आत्मा में बाकी रही हुई मूल्य मज्जितता को भी दूर करने के लिए विशेष परिष्कार स्वरूप कायोत्सर्ग का संकल्प किया जाता है । योग में जरा भी मज्जितता न रहने पाव, यह महान् प्रार्थना, उक्त मूल के द्वारा प्रकटित होता है ।

संस्कार के तीन प्रकार माने गए हैं—दोष मार्जन, हीनांग पूर्ति और अविगयायायक । इन तीनों संस्कारों के द्वारा प्रायेक पदार्थ अपनी विशिष्ट अवस्थाओं में पहुँच जाता है । एक संस्कार यह है, जो धर्म प्रथम जायों का दूर करता है, वह दोषमार्जन संस्कार कहा जाता है । दूसरा संस्कार यह है, जो जायों की कुछ भी कमी के लिए दूर कर जाय लाहन पदार्थों के हीन स्वरूप की पूर्ति करता है, वह हीनांग पूर्ति संस्कार है । तीसरा संस्कार दोष रहित पदार्थ में एक प्रकार का विगयायायक (सूक्ष्म) उत्पन्न-कर्मता है, वह अविगयायायक संस्कार कहा जाता है । परमपरायण संस्कारों का संस्कारत्व, हमें विविध संस्कारों से विवेकित है ।

इदं दृष्ट्वा च कथं न सर्वमज्जित वस्तु का हाथ छोड़िये । एक पदार्थ वस्तु को सदा पर जरा कर वस्तु के क्षेत्र को दूषित करता है । यही वह हीन दोषमार्जन संस्कार है । अन्तिम बार जब मैं से निकल कर, तब मैं मुझा का जगत् प्रकटित करता है । वह कर देता हीनांग पूर्ति

करने के लिए और अन्तः शरीर को बाहर निकाल देने के लिए ही वह दूसरी बात कापोलमर्न के द्वारा सुवि करने का पवित्र संकल्प किया जाता है। मन, वचन और शरीर की चंचलता हटाकर, हृदय में शीत-राम भगवान की स्तुति का प्रवाह बहा कर, अपने आपको चतुसर्ष्व चंचल व्यापारों से हटाकर शुभभ्यासार में केन्द्रित बनाकर, अर्ध-समाधिभाव की प्राप्ति के लिए पूर्व पाप कर्मों के निराकरण के लिए सम्मन करना ही, प्रस्तुत उत्तरी करण सूत्र का महा मंगलकारी उद्देश्य है।

हाँ तो वह कापोलमर्न की प्रतिज्ञा का सूत्र है। पाठक मात्तम भगवन् चाहते होंगे कि कापोलमर्न का अर्थ क्या है ? कापोलमर्न में दो कर्म हैं—काय और वाक्मर्न। अतः कापोलमर्न का अर्थ हुआ—काय-और-वाक्, शरीर की चंचल क्रियाओं का उत्सर्ग-व्यापार। विशेषार्थ यह है कि कापोलमर्न करते समय साधक शरीर का भाव भूलकर, शरीर की मोह-माया त्याग कर आत्म-भाव में प्रवेश करता है। और जब आत्म-भाव में प्रविष्ट होकर सुदृढ़ जगत्-व्यवस्था का समन्वय किया जाता है, तब वह परमात्मभाव में वीन हो जाता है। जब कि वह परमात्मभाव में की खीनता प्रादिकारिक समय यथा में पहुँचती है, तब आत्म प्रदियों में व्यक्त पाप कर्मों की निर्मिता होती है, जीवन में पवित्रता आती है। साम्प्रतिक पवित्रता का सूत्र कापोलमर्न में सम्मिलित है।

कापोलमर्न की व्युत्पत्ति में शरीर की चंचलता का त्याग उपलब्ध मात्र है। शरीर के वाक् मन, वचन का भी मन्त्र है। मन, वचन और शरीर का दुर्भ्यासार जब तक होता रहता है तब तक पाप कर्मों का आश्रय कर्म नहीं हो सकता। और जब तक कर्म कथन से दूरका नहीं रहता, तब तक मोक्षार्थ की साधना पूर्ण नहीं होती। तब कर्म कथनों का नष्ट करने के लिए क्या कर्मों का आश्रय लेने के लिए मन, वचन और शरीर के चतुस्रभ्यासों का त्याग आवश्यक है, और वह त्याग कापोलमर्न की साधना के द्वारा होता है। इस उपाय कापोलमर्न

माया आदि शक्य भी जब अन्तर्दृश्य में घुस जाते हैं तब साधक की आत्मा को शान्ति नहीं देने देते हैं, सर्वदा व्याकुल एवं बेचैन किए रहते हैं, सर्वथा अस्वस्थ बनाए रखते हैं। अहिंसा, सत्य आदि अहमा का आध्यात्मिक स्वास्थ्य है, वह शक्य के द्वारा खींचा हो जाता है, साधक आध्यात्मिक दृष्टि में बीमार पड़ जाता है।

(१) मायाशक्त्य—माया का कार्य कपट होता है। भयंकर दुःख करना, वीर्य रखना, जनता को डगमने की मनोकान्ति रखना, धर्म और बाहर पुरुष का सनसना रहना, स्वीकृत मतों में छोटे लोगों की आलोचना न करना, इत्यादि मायाशक्त्य है।

(२) निदानशक्त्य—धर्माचार्य से सांगति के फल की कामना करना, लोगों की आज्ञाकारी श्रुति, निदान है। किसी राजा आदि का धर्म, वैभव देखकर किंवा सुनकर मन में यह संकल्प करना कि मैं भी, वही आदि मेरे धर्म के फलस्वरूप मुझे भी यह ही वैभव-समृद्धि प्राप्त हो, यह निदानशक्त्य है।

(३) मिथ्यादर्शन शक्त्य—मन पर धडा न खाना, समस्त का आग्रह रखना, मिथ्यादर्शन शक्य है। यह शक्य बहुत भयंकर है। इसके कारण कभी भी मन के प्रति अभिरुचि नहीं होती। यह शक्त्य सम्बन्धदर्शन का विरोधी है।

अन्यक साधक के हृदय में, सम्बन्धदर्शन सूत्र में उल्लिखित इतने कम हुए किन्ता भी शक्य का संकल्प बना रहता, तब तक कोई भी नियम क्या मन विनष्ट नहीं हो सकता। मायावी का मन अत्यन्त मिथ्या होता है। मायाशक्त्य का मन बीमारता भावना से मूर्ख बन जाता है। मिथ्या दर्शन का मन कब ह प्रत्यक्षित स्वयं है। सम्बन्ध के अभाव में वह धर्म विचारों की सर्वथा निराल है। इतना कम शक्त्य का फल है।

अन्यक साधक शक्त्य के सम्बन्ध में चिन्तित मात्र तब वह सम्बन्ध है कि मन जब चेतना की मुक्ति के लिए आवश्यक कारणों

है। भावतत्त्वज्ञान-पुष्टि के बिना नहीं हो' सकता, अतः भाव-
पुष्टि आवश्यक है। भावपुष्टि के लिए राज्य का त्याग प्रकृत है। राज्य
का त्याग और पारस्विकों का साथ कायोल्लेख से हो सकता है अतः कायो-
ल्लेख का एक

: ७ :

आचार्य सूत्र

अनन्य-न्य इतिमात्राण्य नान्यमित्यण्य,

इतिमात्राण्य इतिमात्राण्य नान्यमित्यण्य,

अनन्य-न्य इतिमात्राण्य

अनन्य-न्य इतिमात्राण्य अनन्य-न्य इतिमात्राण्य ॥७॥

अनन्य-न्य इतिमात्राण्य अनन्य-न्य इतिमात्राण्य

अनन्य-न्य इतिमात्राण्य अनन्य-न्य इतिमात्राण्य

अनन्य-न्य इतिमात्राण्य अनन्य-न्य इतिमात्राण्य ॥८॥

अनन्य-न्य इतिमात्राण्य अनन्य-न्य इतिमात्राण्य

अनन्य-न्य इतिमात्राण्य अनन्य-न्य इतिमात्राण्य

अनन्य-न्य इतिमात्राण्य अनन्य-न्य इतिमात्राण्य

अनन्य-न्य इतिमात्राण्य अनन्य-न्य इतिमात्राण्य

अनन्य-न्य इतिमात्राण्य अनन्य-न्य इतिमात्राण्य

अनन्य-न्य इतिमात्राण्य अनन्य-न्य इतिमात्राण्य

अनन्य-न्य इतिमात्राण्य अनन्य-न्य इतिमात्राण्य ॥९॥

हरकत में आजाती है, उनको छोड़कर।

उच्छ्वास=ऊँचा श्वास, निःश्वास=नीचा श्वास, कासित=तली, दिकक=छींक, उवासी, डकार, अपानसाधु, चक्कर, पित्तविकारजन्य घूर्णन, सूक्ष्मरूप से श्रगो का हिलना, सूक्ष्म रूप से कंक का निकलना, सूक्ष्मरूप से नेत्रों का हरकत में आजाना, इत्यादि आगारों में मेरा कायोन्मर्ग अभ्यस्य अविराधित हो।

जब तक अरिहता भगवान को नमस्कार न कर लूँ—अर्थात् 'मनो अरिहताणु' न पढ़ लूँ, जब तक एक स्थान पर स्थिर रहकर, मौन रहकर, धर्म ध्यान में चित्त की प्रकाशता करके अपने शरीर को पाप-व्यापारों से बोलिगता हूँ=अन्नम करता हूँ।

निवेदन

कायोन्मर्ग का अर्थ है, शरीर की सब प्रवृत्तियों को रोक कर पूर्णतया निरचल एवं निस्पन्द रहना। साधक जीवन के क्षिप्त यह निर्वाण का मार्ग अतीव आवश्यक है। इसके द्वारा मन, वचन एवं शरीर में दृढ़ता का भाव पैदा होता है, जीवन समता के क्षेत्र में बाहर होता है, सब ओर आत्म-उपार्ण का प्रकाश फैल जाता है एवं आत्मा वास्तविक में सम्बन्ध हटाकर, वास्तविकता का प्रकाश प्राप्त करता है एवं आत्मा वास्तविकता से सम्बन्ध हटाकर, वास्तविकता का प्रकाश प्राप्त करता है एवं आत्मा वास्तविकता से सम्बन्ध हटाकर, वास्तविकता का प्रकाश प्राप्त करता है।

परन्तु एक बात है, जिस पर ध्यान देना आवश्यक है। साधक कितना ही क्यों न दृढ़ एवं साहसी हो परन्तु कुछ शरीर के व्यापार ऐसे हैं, जो बराबर होते रहते हैं, उनका किसी भी प्रकार से बन्द नहीं किया जा सकता। यदि दृढ़ता बन्द करने का प्रयत्न किया जाय तो स्वाम के रुद्ध हासि की सम्भावना है। अतः कायोन्मर्ग में पहले यदि उन व्यापारों के सम्बन्ध में दृढ़ न रखा जाय तो फिर कायोन्मर्ग की प्रतिज्ञा का भंग होता है। प्रतिज्ञा है, शरीर के व्यापारों का त्याग करना है, और ऊपर स्वाम आदि के व्यापार चालू रहते हैं, अतः प्रतिज्ञा का

पंचेन्द्रिय जीवों का खेदन-भेदन आगार स्वरूप इसलिये रहा गया है कि यदि अपने समस्त किसी जीव की हत्या होती हो तो पुनर्जात न देखाता रहे। शीघ्र ही ध्यान खोजकर उस हत्या को बन्द कराया जाय। अहिंसा से बढ़कर कोई साधना नहीं हो सकती। सर्पों के किसी को काट ले तो वहाँ भी महायत्ना के लिये ध्यान खोजा जा सकता है। इसी भाव को छन्द्य में रखकर अथर्व हेमचन्द्र योगशास्त्र के तीसरे प्रकाश पर की अपनी स्वोपज्ञ वृत्ति में लिखते हैं—“मार्गो मूर्धिकादेः पुरतो गमनेऽप्यतः सरतोऽपि न भङ्गः ।...मर्दयते ब्रह्मर्तुः साध्यादी सदा उच्चारयतो न भङ्गः ।

‘अभमनो’ और ‘अनिराधितो’ के संस्कृत रूप क्रमशः अभमन एवं ‘अविराधित’ हैं। अभमन का अर्थ पूर्णतः नष्ट न होना है, और अविराधित का अर्थ देशतः नष्ट न होना। ‘भमनः सर्वथा विनाशितः, न भमनोऽभमनः। विराधितो देशभमनः न विराधितोऽविराधितः’ ●

—योगशास्त्र तृतीय प्रकाशटीका ।

कायोन्मर्ग पचासन से करना चाहिये अथवा बिज्जूख सीधे की होकर, नीचे की ओर भुजाओं को प्रखवमान रखकर, आँखें नासिका के अग्रभाग पर जमाकर अथवा बन्द करके त्रिज मुद्रा के द्वारा करा भी अधिक सुन्दर होगा। कायोन्मर्ग में इन बातों का सामान्यतया ध्यान रखना चाहिये—एक ही पैर पर अधिक भार न देना, हाँकें बारी का न्यहारा न लेना, मस्तक नीचे की ओर नहीं मुकाना, आँखें नहीं फिराना, सिर नहीं दिखाना आदि ।

मूत्र में कायोन्मर्ग के काष्ठ के सम्बन्ध में वर्णन करते हुए जो वा कहा गया है कि—‘नमो अग्नि-ज्वालो’ पढ़ने तक कायोन्मर्ग का काष्ठ है, इसका यह अर्थ नहीं कि कायोन्मर्ग का कोई निश्चित काष्ठ नहीं, जब जो चाहा सभी नमो अग्नि-ज्वालय पढ़ा और पूर्ण कर लिया। नमो अग्नि-ज्वालय के पढ़ने का तो यह भाव है कि जिसने काष्ठ का कायोन्मर्ग किया चाय अथवा जो कोई निश्चित पाठ पढ़ा चाय, वह पूर्ण हो

॥ ८ ॥

चतुर्विंशतिस्तत्र सूत्र

(१)

लोगस्स उज्जोयगरे,

धम्मतित्थयरे जिणे ।

अरिहते कित्तइस्स,

चउवीस पि केवल्लो ॥

(२)

उसभमजिय च वदे,

सभवमभिणदण च मुमई च ।

पउमप्पह मुपाम,

जिण च चदप्पह वदे ॥

(३)

मुविहि च पुप्फदत्त,

सीअल-सिज्जस-वामुपुज्ज च ।

विमलमणत्त च जिण,

धम्म सति च वदामि ।

(४)

कुयु अर च मल्लि,

वदे मुजिसुध्वय नमिजिण च

वदामि रिदुनेमि,

पातं तह पद्धमाणं च ॥

(१)

एवं नए अनिधुआ,

विदुय-रयमला पहीण-अरमरणा ।

चउवीसं पि जिणवरा,

तित्थयरा ने पत्तीयवु ॥

(१)

वित्थिय-वदिय-महिना,

अ ए लोगस्स उत्तना सिद्धा ।

आरण-वोहिनाम,

समाहि-वरमुत्तमं विवु ॥

(२)

अरेणु निम्भलपरा,

आइ-पेणु अहिम पयानपरा ।

सागरवज्जगभीरा

सिद्धा सिद्धिं नम विवु ॥

संक्षेप

(१)

लोकात्मकसूत्र के

उपनिषद्सूत्र के अर्थों के

अर्थों के अर्थों के अर्थों के

अर्थों के अर्थों के अर्थों के

अर्थों के अर्थों के

अर्थों के अर्थों के

अर्थों के अर्थों के अर्थों के

अर्थों के अर्थों के अर्थों के

(१)

अर्थों के अर्थों के

अर्थों के

नेमि, पार्श्वनाथ, अन्तिम तीर्थंकर वदमान (महावीर) सभी को नमस्कार करता है ॥४॥

जिनकी मैंने स्तुति की है, जो कर्मरूप धूल के मल से राखि है, जो जरामरण दोनों से सर्वथा मुक्त है, वे अन्तः राशुओं पर विजय पायेगा। धर्मप्रवर्तक चौबीस तीर्थंकर मुझपर प्रसन्न हो ॥५॥

जिनकी इन्द्रादि देवों तथा मनुष्यों ने स्तुति की है, वन्दना की है, पूजा, अर्चा की है, और जो अखिल संसार में सबसे उत्तम है, वे सिद्ध तीर्थंकर भगवान् मुझे आरोग्य=सिद्धत्व अर्थात् आत्म-शान्ति, कोषि सम्पददर्शनादि रत्नत्रय का पूर्ण लाभ, तथा उत्तम समाधि प्रदान करें ॥६॥

जो अनेक कोटाकोटि चन्द्रमाओं से भी विशेष निर्मल है, जो हरे से भी अधिक प्रकाशमान है, जो स्वयं भूरमण जैसे महासमुद्र के समान गम्भीर है, वे सिद्ध भगवान् मुझे सिद्धि अर्पण करें, अर्थात् उनके आत्म-म्वन से मुझे सिद्धि=मोक्ष प्राप्त हो ॥७॥

विवेचन

सामायिक की अवतारणा के लिए आत्म-विशुद्धि का दोष धारण करवा है। अतएव सर्व प्रथम आलोचना सूत्र के द्वारा देवों की प्रतिश्रमण करके आत्म-शुद्धि की गई है। तत्पश्चात् विशुद्धि में जो अधिक उत्कर्ष पैदा करने के लिए, एवं हिंसा आदि मूल्यों के लिए प्रयत्न करने के लिए कायेश्वरों की साधना का उल्लेख किया गया है। दोनों साधनाओं के बाद, यह पुनः तीसरी बार भक्त रूप में जगत्-विशतिस्तव सूत्र के द्वारा भक्तिमुखा की वर्णन करने का विधान है। जैसा समाज में जगत्-विशतिस्तव की बहुत अधिक महत्त्व प्राप्त है। जगत्-सौभाग्य भक्ति साहित्य की एक अमर रचना है। इसके अत्यन्त अमूल्य भाव का अन्वय ध्यान किया हुआ है। अगर कोई भक्त, परम पर भक्ति-भावना से भरे हुए चर्य का समास्वादन करता हुआ, उक्त व को बड़े ही बड़े अवसर ही आनन्द विभोर हुए बिना न रहेगा।

बार एक बार भी अपने कल्पना पथ पर ला सकें तो धन्य धन्य हो जायेंगे, प्रलौकिक आनन्द में आत्मविभोर हो जायेंगे। कौन कहता है कि हमारे महापुरुष के नाम, उनके स्तुतिकीर्तन, कुछ नहीं करते। यह तो आत्मा से परमात्मा बनने का पथ है। जीवन को सरल, सुन्दर एवं सबल बनाने का प्रयत्न साधन है। अतएव एक पुनः से, एक लगन से अपने धर्म-तार्किकों का, अतिहन्त भगवानों का स्मरण कीजिए। सूत्रकार ने इसी उच्च आदर्श को ध्यान में रख कर चतुर्विंशतिस्त सूत्र का निर्माण किया है।

‘धर्मतार्किक’ शब्द का निर्वचन ध्यान में रखने लायक है। धर्म का अर्थ है, जिसके द्वारा दुर्गति में, दुर्बल्य में पतित होता हुआ आत्मा संभल कर पुनः स्वस्वरूप में स्थित हो जाए, वह अभ्यास साधना। तार्किक का अर्थ है, जिस के द्वारा संसार समुद्र से तिराजाय, वह साधना। “दुर्गती नन्दन्तनात्मानं धरत्यतीति धर्मः—तार्किकेनेन इति तर्पेन् धर्म एव तर्पे धर्मतर्पेन्”—बनितानु । अतः संसार समुद्र से तिराने वाला, दुर्गति से उद्धार करने वाला धर्म ही सच्चा धर्म है। और जो इस प्रकार के अहिंसा सत्य आदि धर्म धर्मों को स्थापना करते हैं, वे धर्मिक कहलाते हैं। चौबीसों ही धर्मिकों ने, अपने अपने समय में, अहिंसा आदि आत्मधर्मों को स्थापना की है, धर्म से भ्रष्ट होतो हुई जनता पुनः धर्म में स्थिर की है।

‘जिन’ का अर्थ है विजेता है। किन का विजेता ? इसके लिए फिर आचार्य ननि के पास जायिए, क्योंकि वह आध्यात्मिक परिभाषाओं का एक विज्ञानपरिष्ठित है। वह कहता है—“यस्य द्वेय कर्मापेक्षितं परिशुद्धं तत्तत्कर्म कर्म उच्यते जिनाः।” राग द्वेष, कषाय, इन्द्रिय, परिग्रह, उत्सर्ग, अष्टविध कर्म के उच्छेद से जिन कहलाते हैं। चार और आठ कर्म के चक्र में न पड़िए। चार अष्टाधिकर्म भी विजित्योग्य ही है। वात्सना हीन पुरुष के लिए केवल भोग्य नाश है, बंधन नहीं। धातुकर्म नष्ट होने के कारण अब इनसे आये कर्म नहीं बंध सकते।

यह तो तीर्थंकरों के जीवन काल के लिए बात है। और यदि वर्तमान में प्रश्न है तो पौषीय तीर्थंकर भव मोक्ष में पहुँच चुके हैं, बायो ही कर्मों को नष्ट कर चुके हैं, अतः पूर्ण जिन हैं।

जैनधर्म ईश्वर वादी नहीं है; तीर्थंकर वादी है। किसी सर्वशक्ति परमेश्वर अज्ञात ईश्वर में, वह भिन्नकुल विश्वास नहीं रखता। उसका कहना है कि जिस ईश्वर नामधारी व्यक्ति की स्वरूप सम्बन्धी कोई रूपरेखा हमारे सामने ही नहीं है, जो अनादिकाल से माय कल्पना का विषय ही रहा है, जो सदा से अजोक्तिक ही रहता चला आया है, वह हम मनुष्यों को अपना क्या भादर्श दिखा सकता है? उसके जीवन पर से, उसके व्यक्तित्व पर से हमें क्या कुछ लेने धारक मिल सकता है? हम मनुष्यों के लिए तो वही आराध्य देव चाहिए, जो कभी मनुष्य ही रहा हो, हमारे समान ही संसार के मुक्त-दुःख में एवं मोह माया में संश्रस्त रहा हो, और बाद में अपने अनुभव एवं आध्यात्मिक जागरण के बल से संसार के समस्त मुक्त भोगों को दुःखमय जानकर तथा प्राप्त राज्य-वैभव को टुकरा कर निर्वाण पद का पूर्ण साधक बना हो, जलमयस्वरूप सदा के लिए कर्मबन्धनों से मुक्त होकर अपने मोह स्वरूप अतिम लक्ष्य पर पहुँचा हो। जैन धर्म के तीर्थंकर एवं जिन इसी श्रेणी के साधक थे। वे कुछ प्रारम्भ से ही देव न थे, पौज्योक्तिक न थे। वे भी हमारी ही तरह एक दिन हम संसार के पामर प्राणी थे, परन्तु अपनी अध्यात्म-साधना के बल पर प्राप्त हो जाकर शुद्ध, बुद्ध, मुक्त एवं विश्ववन्द्य हो गए थे। प्राचीन धर्मशास्त्रों में पात्र भी उनके उद्योग-पणन के अनेक कदो-मीठे अनुभव एवं कर्तव्य साधनाओं के क्रम बद्ध चरण बिन्दु मिल रहे हैं, जिन पर क्या साधक चल कर हर कोई साधक अपना आत्म कल्याण कर सकता है। तीर्थंकरों का आदर्श साधक जीवन के लिए अममल अभ्युदय एवं त्रिभुवन का ऐसा विश्व उपस्थित करता है।

महिषा का अर्थ महिष=पुत्रित होता है। इस पर विचार करें

की कोई बात नहीं है। सभी पन्दीय पुरुष, हमारे पूज्य होते हैं। आचार्य पूज्य हैं, उपाध्याय पूज्य हैं, साधु पूज्य हैं, फिर भला तीर्थ-कर क्यों पूज्य होंगे। उनसे बढ़कर तो पूज्य कोई हो ही नहीं सकता।

पूजा का अर्थ है, स्पर्शकर पूज्य सम्मान करना। वर्तमान पूजा आदि के गाल्दिक संघर्ष से पूज्य होने वाले आचार्यों ने ही पूजा के दो भेद किए हैं, द्रव्य पूजा और भावपूजा। शरीर और वस्त्र को बाह्य विषयों से संकोच कर प्रभु पन्दना में नियुक्त करना द्रव्य पूजा है और मन को भी बाह्य भोगासक्ति से हटाकर प्रभु के चरणों में अर्पण करना, भावपूजा है। इस सम्बन्ध में श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों विद्वान् एकमत हैं।

दिगम्बर विद्वान् आचार्य अमित गति कहते हैं—

यत्रो विमद संकोचो द्रव्य पूजा निगमते ।

तत्र मानस-संकोचो भावपूजा पुरातनैः ॥

—अमितगति ध्यायकाचार

श्वेताम्बर विद्वान् आचार्यनमि कहते हैं—

पूजा च द्रव्य भाव संकोचस्तत्र करशिरः पादादि संन्यासो

द्रव्य संकोचः, भाव संकोच तु विशुद्धमनसो नियोगः ।

—प्रणिपातदण्डक, पदावश्यक टीका

भगवत्पूजा के लिए पुष्पों की भी आवश्यकता होती है ? प्रभु के समक्ष उपस्थित होने वाला पुष्पहीन कैसे रह सकता है ? आहूण, सुवि-धुष 'दार्शनिक जैनाचार्य हरिभद्र हमें कौन से पुष्प बतलाते हैं ? उन्होंने बड़े ही प्रेम से प्रभुपूजा के योग्य पुष्प चुन रखे हैं—

अहिंसा सत्यनस्त्येयं ब्रह्मचर्यमसङ्गता,

गुणवर्तिक्रतुषो ज्ञानं सत्प्राणि प्रचक्षते ।

—अष्टक ३।६

देखा, आपने कितने सुन्दर पुष्प हैं ? अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्म-चर्य, अनासक्ति, भक्ति, तप और ज्ञान—प्रत्येक पुष्प जीवन को महका

देने वाला है ! भगवान् के पुजारी बनने वालों को इन्हीं इन्द्र के पुत्र पुत्रों द्वारा पूजा करनी होगी । अम्बया स्पृष्ट क्रियाकारक से कुछ नहीं होना जाना । प्रभु की सच्ची पूजा-उपासना तो यही है कि—हम सब सोछें, अपने वचन का पालन करें, कठोर भाषण न करें, किसी को पीटा न पहुँचाएँ, ब्रह्मचर्य पालन करें, वासनाओं को जीतें, पवित्र विचार रखें, सब जीवों के प्रति संमत्भाव एवं समानता को प्राप्त पैदा करें, लोभ-द्वेषा एवं विस्मय-द्वेषा से नकार दें । जब इन भाव पुत्रों की सुगन्ध आपके इन्द्र के अणु-अणु में समा जाए, उस समय ही समझना चाहिए कि हम सच्चे पुजारी बन रहे हैं और हमारी पूजा में अपूर्व ब्रह्म एवं शक्ति का संचार हो रहा है ।

प्रभु के दरबार में यही पुत्र लेकर पहुँचो । प्रभु को इन से असीम प्रेम है । उन्होंने अपने जीवन का तिल-तिल इन्हीं पुत्रों की रक्षा करने के पीछे खर्च किया है, विपत्ति की असह्य चोटों को मुस्कराते हुए सहन किया है । अतः जिसको जिस वस्तु से अत्यधिक प्रेम हो, वही खेद उसको खेद में उपस्थित होना चाहिए । पूजा व्यक्तित्व के अनुसार होती है । अम्बया पूजा नहीं, पूजा का उपहास है । पूज्य, पूजक और पूजा का परस्पर सम्बन्ध रखने वाली योग्य त्रिपुटी ही जीवन का सम्बन्ध कर सकती है, अम्बया नहीं ।

पितामह भीष्म शरशय्या पर पड़े थे । तमाम शरीर में बाण बिड़े थे, परन्तु उनके मस्तक में बाण न खगने से शिर नीचे झटक रहा था । भीष्म ने ठकिया मांगा । खोग दीदे और नरम-नरम रुई से भरे कोमल नट्टिये खाकर उन के शिर के नीचे रखने लगे । भीष्म ने उन सबको खोटा दिया, कहा—‘अर्जुन को बुझाओ ।’ अर्जुन धाये । भीष्म ने कहा—‘कंटे अर्जुन । शिर नीचे झटक रहा है, लकड़ी-क हो रही है, इरा ठकिया हो ।’ अर्जुन अर्जुन ने गुरम्व चीन काष्ठ मस्तक में मार कर बीरवार भीष्म की स्तिर्जि के अङ्गुष्ठ ठकिया दे दिया । पितामह ने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया । क्योंकि अर्जुन ने जैसी शय्या की वैसा ही ठकिया

दिना । उस समय महावीर भौष्म को आराम पहुँचाने की इच्छा से उन्हें रुई का ठकिया देना उन्हें कष्ट पहुँचाना था, उनके स्वरूप का अपमान था, उनके शूरत्व का उपहास था, और था उनकी महिमा के प्रति अपने मोह-अज्ञान का प्रदर्शन । किसकी कैसी उपासना होनी चाहिए, इस के लिए यह कहानी ही पर्याप्त होगी, अधिक क्या ?

योगसूत्र में जो 'आरोग्य' शब्द आया है, उस के दो भेद हैं—द्रव्य और भाव । द्रव्य आरोग्य यानी ज्वर आदि रोगों से रहित होना । भाव आरोग्य यानी कर्म रोगों से रहित होकर स्वस्थ होना=मानसस्वरूप होना, सिद्ध होना । सिद्ध दशा पाकर ही दुर्दशा से छुटकारा मिलेगा । प्रस्तुत सूत्र में आरोग्य से अभिप्राय, भाव आरोग्य से है, द्रव्य से नहीं । परन्तु इस का यह अर्थ नहीं कि साधक को द्रव्य आरोग्य से कोई वास्ता हो नहीं रहना चाहिए । भाव आरोग्य को साधना के लिए द्रव्य-आरोग्य भी अपेक्षित है । यदि द्रव्य आरोग्य हमारी साधना में सह-कारी हो सकता है तो यह भी अपेक्षित ही है, त्याग्य नहीं ।

'समाधिरनुत्तमं' में समाधि शब्द का अर्थ बहुत गहरा है । यह दार्शनिक जगत का महानान्य शब्द है । पाचक परीक्षित्रय जी ने कहा है—जब कि ध्याता, ध्यान पदं ध्येय को द्रैत-स्थिति हट कर केवल स्व स्वरूप मात्र का निर्भास होता है, यह ध्यान, समाधि है । "सत्त्वमात्र निर्भास, समाधिर्भास मेव हि"—दार्शनिका २४।२७। उदाध्याय जी की उद्दान बहुत ऊँची है । समाधि का कितना ऊँचा आदर्श उपस्थित किया है । योगनृपकार पतञ्जलि भी पाचक जी के ही पथ पर हैं ।

भगवान् महामौर साधक जीवन के बड़े नमूने शरारो हैं । स्थानांग सूत्र में समाधि का वर्णन करते हुए आने समाधि के दश प्रकार बतलाए हैं—पाँच महायत और पाँच समिति । —"इत्येव समाधि १० तं ० गच्छद्वयप्रो वेत्तुं".....स्थानाङ्क १०।१।११। "पाँच महायत और पाँच समिति का मानव जीवन के उत्थान में कितना महत्व है ? यह पूछने की बात नहीं । समस्त जैन वाङ्मय इन्हीं के सुध-मध से

किं हन हृष-उधर न भटक कर अपने आत्म-निर्माण के बिण् ही मंगल
मानना करें—'समादिवन्तुत्तमं दिव ।'

अब एक अन्तिम शब्द 'सिद्धि सिद्धि नमः सिद्धि' रह गया है, जिस
पर विचार करना आवश्यक है। कुछ सज्जन कहते हैं कि—भगवान्
तो पीठराग हैं, कर्ता नहीं हैं, उनके श्री चरणों में यह स्पर्श की प्रार्थना
क्यों और कैसे ? उत्तर में कहना है कि—प्रभु पीठरागी हैं, कुछ
नहीं करते हैं, परन्तु उनका अवलम्ब लेकर भक्त तो सब कुछ कर
सकता है। सिद्धि, प्रभु नहीं देते, भक्त स्वयं ग्रहण करता है। परन्तु
भक्ति की भाषा में इस प्रकार प्रभु चरणों में प्रार्थना करना, भक्त का
कर्तव्य है। ऐसा करने से अर्थात् का नाश होता है, हृदय में भद्रा का
रज-आम्र होता है, और भगवान् के प्रति अर्पण सम्मान प्रदर्शित
होता है। यदि लाक्षणिक भाषा में यह तो इसका अर्थ—सिद्धि, तुम्हें
सिद्धि प्रदान करें, यह न होकर यह होगा कि सिद्ध प्रभु के आलम्बन
से तुम्हें सिद्धि प्राप्त हो। अब यह प्रार्थना, भाषा में बदल गई है।
जैन दृष्टि से भाषा करना, अस्मिन्मान्त नहीं, किन्तु सुसिद्धान्त है।
जैनधर्म में भगवान् का स्मरण केवल भद्रा का रज आलम्बन करने के
लिए हो है, वहाँ जेने-देने के लिए कोई स्थान नहीं। हम भगवान्
को कर्ता नहीं मानते, केवल अपने जीवन-रथ का सारथी मानते हैं।
सारथी मार्ग प्रदर्शन करता है, पुत्र पीठा को ही करना होता है।
महाभारत के युद्ध में कृष्ण की स्थिति जानते हैं ? क्या भविष्य है ?
"अर्जुन ! मैं-केवल तेरा सारथी बनूँगा। शस्त्र नहीं उठाऊँगा। शस्त्र
तुम्हें ही उठाने होने। पीठाओं से तुम्हें ही उठाना होगा। शस्त्र के
बाद अपने ही गायदाव पर भरोसा रखना होगा !" यह है कृष्ण की
अमोघमिद्व प्रवृत्ति ! अर्जुन-रथसे के अभाव दिवसी जैनधर्मियों
का भी यही आदेश है ! उनका भी कहना है कि 'हमने सारथी बनकर
तुम्हें मार्ग बतला दिया है। अब हमारा प्रयत्न क्या समय तुम्हारे
आयन-रथ को हाथों की आदर्श-रथ आने के लिए करा नरदा

तुम्हारे साथ है, किन्तु साधना के शस्त्र तुम्हें ही उठाने होंगे, वासनाओं से तुम्हें ही छड़ना होगा, सिद्धि तुम्हें ही मिलेगी, अक्षर्य मिलेगी ! किन्तु मिलेगी अपने पुरुषार्थ से ।

सिद्धि का अर्थ पुरानी परम्परा मुक्ति-मोक्ष करती आ रही है। प्रायः प्राचीन और भर्वाचीन सभी टीकाकार इतना ही अर्थ कह कर मौन हो जाते हैं । परन्तु क्या सिद्धि का सीधा सादा मुख्यार्थ उद्देश्य-पूर्ति नहीं हो सकता ? मुझे तो यही अर्थ उचित जान पड़ता है। यद्यपि परम्परा से मोक्ष भी उद्देश्यपूर्ति में ही सम्मिलित है, किन्तु यही निरतिचार मतपालन रूप उद्देश्यपूर्ति कुछ अधिक संगत जान पड़ती है । उसका हम से निकट सम्बन्ध है ।

आचार्य हेमचन्द्र ने किंनिय वंदिष्य महिया' में के 'महिया' पाठ के स्थान में 'मदश्र' पाठ का भी उल्लेख किया है। इस दृष्टा में 'मदश्र' का अर्थ मेरे द्वारा करना चाहिए । सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ होगा—मेरे द्वारा कीर्तित, वन्दित । 'मदश्र इति पाठसारम्, तत्र मयत्ता मतः'—योग शास्त्रवृत्ति । आचार्य हेमचन्द्र के कथनानुसार कीर्तन का अर्थ नाम प्रहण है, और वन्दन का अर्थ है स्तुति ।

आचार्य हेमचन्द्र 'विद्वयवयमला' पर भी नया प्रकाश डालते हैं । उक्त पद में रज और मज दो शब्द हैं । रज का अर्थ बध्यमान कर्म, बद्ध कर्म, तथा जेया पथ कर्म किया है । और मज का अर्थ पृथ्वद्ध कर्म, निकाचित कर्म तथा साम्परायिक कर्म किया है । ओष मान आदि कथाओं के बिना करज मन आदि योगप्रय से बधने वाला कर्म जेयापथ कर्म होता है । और कथाओं के साथ योगप्रय से बधने वाला कर्म साम्परायिक होता है । बद्धकर्म केवल लगने मात्र होता है, बद्ध रह नहीं होता । और निकाचित कर्म रह बधन वाले अक्षर्य भोगनपाय्य कर्म का कहत हैं । सिद्ध भगवान् दोनों ही प्रकार के रज एवं मज से सर्वथा रहित होने हैं ।

इदञ्च मनश्च उनामन विभूत, प्रकाशने अनेक्यत्वाद्यन्तरे

चा खोनते पैले विधूतखोनताः । वप्पमजं च कर्न खः, पूर्ववद्धं
तु न्तन् । अयवा वद्धं खो, निक्काचिजं न्तन् । अयवा ऐपां पयं खः,
सन्तरिक्कं न्तन्ति—योगमास्त्र स्तोपणं वृत्ति ।

चतुर्विंशतिस्तव, ईपांपय सूत्र के विवेचन में निर्दिष्ट जिन मुद्रा
अयवा योग मुद्रा से पढ़ना चाहिए । अस्त-म्यस्त दशा में पढ़ने से
स्तुति का पूर्ण रत्न नहीं मिलता ।

प्रतिज्ञा-ग्रन्थ

कर्मणि भवे ! सामादय,
 मारुज्ज ज्ञाण पण्यस्वामि ।
 ज्ञावन्नियम पग्गुसामामि ।
 सुविह निरिद्धेण ।
 मणज वायाण्, काण्ण ।
 न कर्म्मि, न कारवामि ।
 नम्म नन ! पडिस्सकमामि,
 निराभि, गमिहामि,
 मग्गान्ण वागिरामि ।

174

[illegible]

421

4-24714-1

4-4445

देवा माता. ५६ ।]

SECRET

1998, 1999, 2000, 2001, 2002, 2003, 2004, 2005, 2006, 2007, 2008, 2009, 2010, 2011, 2012, 2013, 2014, 2015, 2016, 2017, 2018, 2019, 2020, 2021, 2022, 2023, 2024, 2025, 2026, 2027, 2028, 2029, 2030, 2031, 2032, 2033, 2034, 2035, 2036, 2037, 2038, 2039, 2040, 2041, 2042, 2043, 2044, 2045, 2046, 2047, 2048, 2049, 2050, 2051, 2052, 2053, 2054, 2055, 2056, 2057, 2058, 2059, 2060, 2061, 2062, 2063, 2064, 2065, 2066, 2067, 2068, 2069, 2070, 2071, 2072, 2073, 2074, 2075, 2076, 2077, 2078, 2079, 2080, 2081, 2082, 2083, 2084, 2085, 2086, 2087, 2088, 2089, 2090, 2091, 2092, 2093, 2094, 2095, 2096, 2097, 2098, 2099, 2100, 2101, 2102, 2103, 2104, 2105, 2106, 2107, 2108, 2109, 2110, 2111, 2112, 2113, 2114, 2115, 2116, 2117, 2118, 2119, 2120, 2121, 2122, 2123, 2124, 2125, 2126, 2127, 2128, 2129, 2130, 2131, 2132, 2133, 2134, 2135, 2136, 2137, 2138, 2139, 2140, 2141, 2142, 2143, 2144, 2145, 2146, 2147, 2148, 2149, 2150, 2151, 2152, 2153, 2154, 2155, 2156, 2157, 2158, 2159, 2160, 2161, 2162, 2163, 2164, 2165, 2166, 2167, 2168, 2169, 2170, 2171, 2172, 2173, 2174, 2175, 2176, 2177, 2178, 2179, 2180, 2181, 2182, 2183, 2184, 2185, 2186, 2187, 2188, 2189, 2190, 2191, 2192, 2193, 2194, 2195, 2196, 2197, 2198, 2199, 2200, 2201, 2202, 2203, 2204, 2205, 2206, 2207, 2208, 2209, 2210, 2211, 2212, 2213, 2214, 2215, 2216, 2217, 2218, 2219, 2220, 2221, 2222, 2223, 2224, 2225, 2226, 2227, 2228, 2229, 2230, 2231, 2232, 2233, 2234, 2235, 2236, 2237, 2238, 2239, 2240, 2241, 2242, 2243, 2244, 2245, 2246, 2247, 2248, 2249, 2250, 2251, 2252, 2253, 2254, 2255, 2256, 2257, 2258, 2259, 2260, 2261, 2262, 2263, 2264, 2265, 2266, 2267, 2268, 2269, 2270, 2271, 2272, 2273, 2274, 2275, 2276, 2277, 2278, 2279, 2280, 2281, 2282, 2283, 2284, 2285, 2286, 2287, 2288, 2289, 2290, 2291, 2292, 2293, 2294, 2295, 2296, 2297, 2298, 2299, 2300, 2301, 2302, 2303, 2304, 2305, 2306, 2307, 2308, 2309, 2310, 2311, 2312, 2313, 2314, 2315, 2316, 2317, 2318, 2319, 2320, 2321, 2322, 2323, 2324, 2325, 2326, 2327, 2328, 2329, 2330, 2331, 2332, 2333, 2334, 2335, 2336, 2337, 2338, 2339, 2340, 2341, 2342, 2343, 2344, 2345, 2346, 2347, 2348, 2349, 2350, 2351, 2352, 2353, 2354, 2355, 2356, 2357, 2358, 2359, 2360, 2361, 2362, 2363, 2364, 2365, 2366, 2367, 2368, 2369, 2370, 2371, 2372, 2373, 2374, 2375, 2376, 2377, 2378, 2379, 2380, 2381, 2382, 2383, 2384, 2385, 2386, 2387, 2388, 2389, 2390, 2391, 2392, 2393, 2394, 2395, 2396, 2397, 2398, 2399, 2400, 2401, 2402, 2403, 2404, 2405, 2406, 2407, 2408, 2409, 2410, 2411, 2412, 2413, 2414, 2415, 2416, 2417, 2418, 2419, 2420, 2421, 2422, 2423, 2424, 2425, 2426, 2427, 2428, 2429, 2430, 2431, 2432, 2433, 2434, 2435, 2436, 2437, 2438, 2439, 2440, 2441, 2442, 2443, 2444, 2445, 2446, 2447, 2448, 2449, 2450, 2451, 2452, 2453, 2454, 2455, 2456, 2457, 2458, 2459, 2460, 2461, 2462, 2463, 2464, 2465, 2466, 2467, 2468, 2469, 2470, 2471, 2472, 2473, 2474, 2475, 2476, 2477, 2478, 2479, 2480, 2481, 2482, 2483, 2484, 2485, 2486, 2487, 2488, 2489, 2490, 2491, 2492, 2493, 2494, 2495, 2496, 2497, 2498, 2499, 2500, 2501, 2502, 2503, 2504, 2505, 2506, 2507, 2508, 2509, 2510, 2511, 2512, 2513, 2514, 2515, 2516, 2517, 2518, 2519, 2520, 2521, 2522, 2523, 2524, 2525, 2526, 2527, 2528, 2529, 2530, 2531, 2532, 2533, 2534, 2535, 2536, 2537, 2538, 2539, 2540, 2541, 2542, 2543, 2544, 2545, 2546, 2547, 2548, 2549, 2550, 2551, 2552, 2553, 2554, 2555, 2556, 2557, 2558, 2559, 2560, 2561, 2562, 2563, 2564, 2565, 2566, 2567, 2568, 2569, 2570, 2571, 2572, 2573, 2574, 2575, 2576, 2577, 2578, 2579, 2580, 2581, 2582, 2583, 2584, 2585, 2586, 2587, 2588, 2589, 2590, 2591, 2592, 2593, 2594, 2595, 2596, 2597, 2598, 2599, 2600, 2601, 2602, 2603, 2604, 2605, 2606, 2607, 2608, 2609, 2610, 2611, 2612, 2613, 2614, 2615, 2616, 2617, 2618, 2619, 2620, 2621, 2622, 2623, 2624, 2625, 2626, 2627, 2628, 2629, 2630, 2631, 2632, 2633, 2634, 2635, 2636, 2637, 2638, 2639, 2640, 2641, 2642, 2643, 2644, 2645, 2646, 2647, 2648, 2649, 2650, 2651, 2652, 2653, 2654, 2655, 2656, 2657, 2658, 2659, 2660, 2661, 2662, 2663, 2664, 2665, 2666, 2667, 2668, 2669, 2670, 2671, 2672, 2673, 2674, 2675, 2676, 2677, 2678, 2679, 26

4-10-1971-1971 4471

44 46 48 50 52 54 56 58 60 62 64 66 68 70 72 74 76 78 80 82 84 86 88 90 92 94 96 98 100

1. 2. 3. 4. 5. 6. 7. 8. 9. 10. 11. 12. 13. 14. 15. 16. 17. 18. 19. 20. 21. 22. 23. 24. 25. 26. 27. 28. 29. 30. 31. 32. 33. 34. 35. 36. 37. 38. 39. 40. 41. 42. 43. 44. 45. 46. 47. 48. 49. 50. 51. 52. 53. 54. 55. 56. 57. 58. 59. 60. 61. 62. 63. 64. 65. 66. 67. 68. 69. 70. 71. 72. 73. 74. 75. 76. 77. 78. 79. 80. 81. 82. 83. 84. 85. 86. 87. 88. 89. 90. 91. 92. 93. 94. 95. 96. 97. 98. 99. 100. 101. 102. 103. 104. 105. 106. 107. 108. 109. 110. 111. 112. 113. 114. 115. 116. 117. 118. 119. 120. 121. 122. 123. 124. 125. 126. 127. 128. 129. 130. 131. 132. 133. 134. 135. 136. 137. 138. 139. 140. 141. 142. 143. 144. 145. 146. 147. 148. 149. 150. 151. 152. 153. 154. 155. 156. 157. 158. 159. 160. 161. 162. 163. 164. 165. 166. 167. 168. 169. 170. 171. 172. 173. 174. 175. 176. 177. 178. 179. 180. 181. 182. 183. 184. 185. 186. 187. 188. 189. 190. 191. 192. 193. 194. 195. 196. 197. 198. 199. 200. 201. 202. 203. 204. 205. 206. 207. 208. 209. 210. 211. 212. 213. 214. 215. 216. 217. 218. 219. 220. 221. 222. 223. 224. 225. 226. 227. 228. 229. 230. 231. 232. 233. 234. 235. 236. 237. 238. 239. 240. 241. 242. 243. 244. 245. 246. 247. 248. 249. 250. 251. 252. 253. 254. 255. 256. 257. 258. 259. 260. 261. 262. 263. 264. 265. 266. 267. 268. 269. 270. 271. 272. 273. 274. 275. 276. 277. 278. 279. 280. 281. 282. 283. 284. 285. 286. 287. 288. 289. 290. 291. 292. 293. 294. 295. 296. 297. 298. 299. 300. 301. 302. 303. 304. 305. 306. 307. 308. 309. 310. 311. 312. 313. 314. 315. 316. 317. 318. 319. 320. 321. 322. 323. 324. 325. 326. 327. 328. 329. 330. 331. 332. 333. 334. 335. 336. 337. 338. 339. 340. 341. 342. 343. 344. 345. 346. 347. 348. 349. 350. 351. 352. 353. 354. 355. 356. 357. 358. 359. 360. 361. 362. 363. 364. 365. 366. 367. 368. 369. 370. 371. 372. 373. 374. 375. 376. 377. 378. 379. 380. 381. 382. 383. 384. 385. 386. 387. 388. 389. 390. 391. 392. 393. 394. 395. 396. 397. 398. 399. 400. 401. 402. 403. 404. 405. 406. 407. 408. 409. 410. 411. 412. 413. 414. 415. 416. 417. 418. 419. 420. 421. 422. 423. 424. 425. 426. 427. 428. 429. 430. 431. 432. 433. 434. 435. 436. 437. 438. 439. 440. 441. 442. 443. 444. 445. 446. 447. 448. 449. 450. 451. 452. 453. 454. 455. 456. 457. 458. 459. 460. 461. 462. 463. 464. 465. 466. 467. 468. 469. 470. 471. 472. 473. 474. 475. 476. 477. 478. 479. 480. 481. 482. 483. 484. 485. 486. 487. 488. 489. 490. 491. 492. 493. 494. 495. 496. 497. 498. 499. 500. 501. 502. 503. 504. 505. 506. 507. 508. 509. 510. 511. 512. 513. 514. 515. 516. 517. 518. 519. 520. 521. 522. 523. 524. 525. 526. 527. 528. 529. 530. 531. 532. 533. 534. 535. 536. 537. 538. 539. 540. 541. 542. 543. 544. 545. 546. 547. 548. 549. 550. 551. 552. 553. 554. 555. 556. 557. 558. 559. 560. 561. 562. 563. 564. 565. 566. 567. 568. 569. 570. 571. 572. 573. 574. 575. 576. 577. 578. 579. 580. 581. 582. 583. 584. 585. 586. 587. 588. 589. 590. 591. 592. 593. 594. 595. 596. 597. 598. 599. 600. 601. 602. 603. 604. 605. 606. 607. 608. 609. 610. 611. 612. 613. 614. 615. 616. 617. 618. 619. 620. 621. 622. 623. 624. 625. 626. 627. 628. 629. 630. 631. 632. 633. 634. 635. 636. 637. 638. 639. 640. 641. 642. 643. 644. 645. 646. 647. 648. 649. 650. 651. 652. 653. 654. 655. 656. 657. 658. 659. 660. 661. 662. 663. 664. 665. 666. 667. 668. 669. 670. 671. 672. 673. 674. 675. 676. 677. 678. 679. 680. 681. 682. 683. 684. 685. 686. 687. 688. 689. 690. 691. 692. 693. 694. 695. 696. 697. 698. 699. 700. 701. 702. 703. 704. 705. 706. 707. 708. 709. 710. 711. 712. 713. 714. 715. 716. 717. 718. 719. 720. 721. 722. 723. 724. 725. 726. 727. 728. 729. 730. 731. 732. 733. 734. 735. 736. 737. 738. 739. 740. 741. 742. 743. 744. 745. 746. 747. 748. 749. 750. 751. 752. 753. 754. 755. 756. 757. 758. 759. 760. 761. 762. 763. 764. 765. 766. 767. 768. 769. 770. 771. 772. 773. 774. 775. 776. 777. 778. 779. 780. 781. 782. 783. 784. 785. 786. 787. 788. 789. 790. 791. 792. 793. 794. 795. 796. 797. 798. 799. 800. 801. 802. 803. 804. 805. 806. 807. 808. 809. 810. 811. 812. 813. 814. 815. 816. 817. 818. 819. 820. 821. 822. 823. 824. 825. 826. 827. 828. 829. 830. 831. 832. 833. 834. 835. 836. 837. 838. 839. 840. 84

உறுதிப்படுத்தியது

10. निम्नलिखित में से एक प्रश्न का उत्तर दीजिए।

[विशेष रूप से सत्यमेव जयते]

६५१-६५३

ਜਾਂਦਾ ਹੈ।

4/7/2014 4

9-47144-4 d

কর্মসূচী-০১/১৪ ও (অন্যান্য কর্মসূচী)

| | |
|---------------------------------|-------------------------------------|
| न करेनि=न स्वयं करूंगा | निन्दानि=घ्रातृसाक्षी से निंदा करता |
| न कारयेनि=न दूसरों से कराऊंगा | हूँ |
| भंते=हे भगवन् ! | गरिहानि=आपकी साक्षी से गहरा |
| तत्सं=अतीत में जो भी पाप कर्म | करता हूँ |
| किया हो, उसका | अन्त्याणं=अपनी आत्मा को |
| पडिक्रमनानि=प्रतिक्रमण करता हूँ | बोखिरानि=बोखराता हूँ, त्यागता हूँ |

भावार्थ

हे भगवन् ! मैं सामायिक ग्रहण करता हूँ, पापकारी क्रियाओं का परित्याग करता हूँ ।

जब तक मैं दो बड़ी के नियम की उपासना करूँ, तब तक दो करण [करना और कराना] और तीन योग ते=मन, वचन और काय से पाप-कर्म न स्वयं करूंगा और न दूसरे से कराऊंगा ।

[जो पाप कर्म चलते हो गए हैं, उनका] हे भगवन् ! मैं प्रतिक्रमण करता हूँ, अपनी साक्षी से निंदा करता हूँ, आरपी साक्षी से गहरा करता हूँ । अन्त में मैं अपनी आत्मा को पाप बरतार से बोखिरता हूँ=अलग करता हूँ । अथवा पापकर्म करनेवाली अपनी भूतकालीन मलिन आत्मा का त्याग करता हूँ, नया पवित्र जीवन ग्रहण करता हूँ ।

विवेचन

जब तक जो कुछ भी विधि-विधान किया जा रहा था, वह सब सामायिक ग्रहण करने के लिए करने वाले को तैयार करना था । अतएव ऐसी पधिकां सूत्र के द्वारा कुछ पापों की आलोचना करने के बाद, तथा कायोत्सर्ग में पृथं सुखे रूप में लोभस्त सूत्र के द्वारा अन्तर्हृदय का पाप काजिना धो देने के बाद, सब ओर से विमुक्त आत्म-भूमि में सामायिक का बोधोपपत्ति, उक्त 'करेनि भंते' सूत्र के द्वारा किया जाता है ।

सामायिक क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर 'करेनि भंते' के मूल पाठ

में स्पष्ट रूप से दे दिया गया है। सामायिक प्रत्याख्यान-स्वरूप है, संवररूप है। अतएव कम-से-कम दो घड़ी के लिए पापरूप व्यापारों का, क्रियाओं का, चेष्टाओं का प्रत्याख्यान=त्याग करना, सामायिक है।

साधक प्रतिज्ञा करता है, हे भगवन् ! जिनके कारण अन्तर्द्वेष पार मज्ज से मज्जिन होता है, आत्म-शुद्धि का नाश होता है; उन मन, वचन और शरीर रूप तीनों योगों की दुष्प्रवृत्तियों का स्वीकृत नियम पर्यन्त त्याग करता हूँ। अर्थात् मनसे दुष्ट चिन्तन नहीं करूँगा, वचन से असत्य तथा कटु-भाषण नहीं करूँगा, और शरीर से किसी भी प्रकार का दुष्ट आचरण नहीं करूँगा। मन, वचन, एवं शरीर की अशुभप्रवृत्तिमूलक चंचलताओं को रोक कर अपने आपको स्वस्वरूप में स्थिर तथा निश्चल बनाता हूँ, आत्म-शुद्धि के लिए आध्यात्मिक क्रिया की उपासना करता हूँ, भूतकाल में किए गए पापों से प्रति क्रमण के द्वारा निवृत्त होता हूँ, आलोचना एवं पश्चात्कार के रूप में आत्ममाफी से निन्दा तथा आपकी साक्षी से गहरी करता हूँ, पारायण-

पाठक समझ गए होंगे कि—कितनी महत्त्वपूर्ण प्रतिज्ञा है। सामायिक का आदर्श केवल वेप बदलना ही नहीं, जीवन को बदलना है। यदि सामायिक ग्रहण करके भी वही वासना रही, वही प्रवृत्ति रही, वही क्रोध, मान, माया और लोभ की काखिमा रही तो फिर सामायिक करने से लाभ क्या ? खेद है कि आज कुछ के प्रसार में, राज द्वेष में, सामायिक प्रवृत्ति में डूबके रहने वाले जीव कितने प्रति सामायिक करते हुए भी सामायिक के अद्भुत आध्यात्मिक सम-स्वरूप को नहीं देख पाते हैं। यही कारण है कि—वर्तमान युग में सामायिक के द्वारा आत्म-मोक्षि के दर्शन करने वाले विरले ही भाग्यशाली साधक मिलते हैं।

सामायिक में जो पारंपार का त्याग बतलाया गया है, वह किस मोर्चा की है? उक्त परमके उत्तरमें कहना है कि मुख्य रूप से त्याग के दो

मार्ग हैं—‘सर्व विरति और देश विरति ।’ सर्व विरति का अर्थ है—
 ‘सर्व अंग में त्यागना ।’ और देश विरति का अर्थ है—‘कुछ अंग में
 त्यागना ।’ प्रत्येक निषेध के तीन योग=मन, वचन, शरीर और तीव्र
 करण=कृत, कारित, अनुमत्—सब मिलकर अधिक से अधिक नौ अंग
 होते हैं । अस्तु, जो त्याग पूरे नौ अंगों से किया जाता है, वह सर्व विरति
 और जो नौ में से कुछ भी कम छाठ, साठ, या द्वादश आदि अंगों से किया
 जाता है, वह देश विरति होता है । साधू की सामायिक सर्व विरति
 है; अतः वह तीन करण और तीन योग के नौ अंगों से सनत्त पक्ष
 व्यापारों का सावज्जीवन के लिए त्याग करता है । जब कि गृहस्थ को
 सामायिक देश विरति है, अतः वह पूर्ण त्यागी न बनकर केवल द्वादश अंगों
 से, अर्थात् दो करण तीन योग से दो घड़ी के बिचे पापों का परित्याग
 करता है । इसी बात को लक्ष्य में रखते हुए प्रतिज्ञा पाठ में कहा गया
 है कि ‘दुषिहं त्रिविहेयं ।’ सावध योग न स्वयं कलंगा और न दूसरों से
 कराईगा, मन, वचन, एवं शरीर से ।

दो करण और तीन योग के संनिधाय से सामायिक रूप प्रत्या-
 न्याय विधि के द्वादश प्रकार होते हैं—

- (१) मन से कलं नहीं ।
- (२) मन से कराई नहीं ।
- (३) वचन से कलं नहीं ।
- (४) वचन से कराई नहीं ।
- (५) कर्मा से कलं नहीं ।
- (६) कर्मा से कराई नहीं ।

शास्त्रीय परिभाषा में उक्त द्वादश प्रकारों को पट्कोटि के नाम से
 जाना गया है । साधू का सामायिक अठारह कोटि से होता है; उसमें
 सावध व्यापार का अनुमोदन तक भी त्यागने के लिए तीन कोटियाँ
 और होती हैं; परन्तु गृहस्थ को परित्यागिणी कुछ ऐसी है कि—वह
 संसार में रहते हुए पूर्ण त्याग के उद्गम पथ पर नहीं चढ़ सकता । अतः

दुरु कर देना चाहिए। वीतराग देव हमारे हृदय की सब भावनाओं के देया हैं, उनसे हमारा जुड़ भी चुपा हुआ नहीं है; अतः उनकी साक्षी से धर्म साधन करना, हमें आध्यात्मिक क्षेत्र में बड़ी बलवती प्रेरणा प्रदान करता है, सतत जागृत रहने के लिए सावधान करता है। वीतराग भगवान को सर्वज्ञता और उनकी साक्षिता हमारी प्रत्येक धर्म क्रियाओं में रहे हुए दम्भ के विष को दूर करने के लिए महान् अभोष मंत्र है।

‘सावज्जं जोगं पच्चस्सामि’ में जाने वाले सावज्ज शब्द पर भी विशेष लक्ष्य रखने की आवश्यकता है। सावज्ज का संस्कृत रूप सावध है। सावध में दो शब्द हैं ‘स’ और ‘धवध’। दोनों मिलकर सावध शब्द बनता है। सावध का अर्थ है पाप सहित। अतः जो कार्य पाप सहित हों, पाप क्रिया के बन्ध करने वाले हों, आत्मा का पतन करने वाले हों, सामायिक में उन सब का त्याग आवश्यक है। परन्तु कुछ सज्जन कहते हैं कि—सामायिक करते समय जीव-रक्षा का कार्य नहीं कर सकते, किन्हीं की दया नहीं पा सकते।’ इस सम्बन्ध में उनका अभिप्राय यह है कि ‘सामायिक में किसी पर राग द्वेष नहीं करना चाहिये। और जब हम किसी मरते हुए जीव को बचावेंगे तो अवश्य उस पर रागभाव आएगा। बिना रागभाव के किसी को बचाया नहीं जा सकता।’ इस प्रकार उनकी दृष्टि में किसी मरते हुए जीव को बचाना भी सावध योग है।

प्रस्तुत भ्रान्त धारणा के उधर में निवेदन है कि सामायिक में सावध योग का त्याग है। सावध का अर्थ है—पापमय कार्य। अतः सामायिक में जीव-हिंसा का त्याग ही अभीष्ट है, न कि जीव-दया का। क्या जीव-दया भी पापमय कार्य है? यदि ऐसा है, तब तत्समन्तरे में धर्म का कुछ अर्थ हो नहीं रहेगा। दया तो मानव हृदय के कोमल भाव की एवं सम्मत्त्व के अस्तित्व की सूचना देनेवाला पञ्चैतिक धर्म है। जहां दया नहीं, वहाँ धर्म तो क्या, मनुष्य की साधारण मनुष्यता भी न रहेगी। जीव-दया, जैन धर्म का तो भाग्य है। सम्मत्ता के आदिकार से जैन धर्म

की महत्ता तथा के कारण ही संसार में सुप्रसिद्ध रही है।

अब रहा राग-भाव का प्रश्न। इस सम्बन्ध में कहना है कि राग मोह के कारण होता है। जहाँ संसार का अपना स्वार्थ है, कषाक-भाव है, वही मोह है। जब हम सामायिक में किसी भी प्राणी को, वह भी बिना किसी स्वार्थ के, केवल हृदय की स्वभावतः उत्पन्न हुई अनु-कम्पा के कारण तथा करने हैं तो मोह किधर से होता है ? राग भाव को कहाँ स्थान मिलता है ? जीवरक्षा में रागभाव की कल्पना करना बुद्धि का अजीर्ण है, आध्यात्मिकता का गहन उपहास है। हमारे तैत्तिरीय मुनि जीवरक्षा आदि सम्प्रवृत्ति में भी रागभाव के होने का अधिक मोह मचाते हैं। मैं उनसे पूचना चाहता हूँ—आप साधुओं की सामायिक बनी है या गृहस्थ की ? आप मानते हैं साधुओं की सामायिक बनी है, क्योंकि वह जब काटि की है और वायव्यजीवन की है। इस पर कहना है कि आप अपनी जब कोटि की सर्वोच्च सामायिक में भूध्रुव जाने पर आचार के विषय प्रयत्न करने हैं, जातल जाने हैं और जाने हैं, वह रागभाव नहीं होता ? राग होने पर अपने शरीर को सार संभाव करने है, जीववि श्वात है, जब रागभाव नहीं होता ? शीतकाल में प्राङ्गु चलने पर कम्बल ओढ़ते हैं, गर्मी से बचने का प्रयत्न करते हैं, वह रागभाव नहीं होता ? राग जान पर आराधन करते हैं, कई घंटे सोते रहने हैं, वह रागभाव नहीं होता ? रागभाव होता है बिना किसी स्वार्थ के। साहजिकता के किसी भाव का बचान में ? वह कहीं का दर्शन प्राप्त है ? आप कहते कि साहजिकता की सब प्रवृत्तियाँ निष्काम भाव से होती हैं, जब उनमें राजभाव नहीं होता। मैं कहूँगा कि सामायिक यदि चल किता से, अथवा किसी भी समस्त किसी जीव की रक्षा कर देना भी निष्काम प्रवृत्ति है, चाहे वह कर्म-निर्देश का कारण है, पाप का कारण नहीं। किसी भी अनात्मिक वर्तित प्रवृत्ति में राजभाव की कल्पना करना, सम्भव के विषय सम्भाव है। यदि इसी प्रकार राजभाव मज्जा मान, वह तो कहीं भी घुटकाया नहीं रहता, इस कहीं भी पाप से नहीं बच सकते।

अतः राग का मूल मोह में, आसक्ति में, संसार की वासना में है, जीव रक्षा आदि धर्म प्रवृत्ति में नहीं। जो सारे जगत के साथ एक ठार हो गया है, घबिला विश्व के प्रति निष्काम एवं निष्कपट भाव से मनवा की अनुभूति करने लग गया है, वह प्राप्ति मात्र के दुःख को अनुभव करेगा, उसे दूर करने की यथाशक्ति प्रयत्न करेगा, फिर भी बेलाग रहेगा, राग में नहीं फँसेगा।

आप कह सकते हैं कि साधक की भूमिका साधारण है, अतः वह इतना निःस्पृह एवं निर्मोही नहीं हो सकता कि जीवरक्षा करे और राग-भाव न भस्मे। कोई महान आत्मा ही इस उच्च भूमिका पर पहुँच सकता है, जो दुःखित जीवों की रक्षा करे और वह भी इतने निःस्पृह भाव से, एवं कर्षण बुद्धि से करे कि उसे किसी भी प्रकार के राग का स्पर्श न हो। परन्तु साधारण भूमिका का साधक तो रागभाव से अस्पृष्ट नहीं रह सकता। इसके उत्तर में कहना है कि अष्टा आपकी बात ही सही, पर इसमें हानि क्या है ? क्योंकि साधक की आप्त्वात्मिक दुर्बलता के कारण यदि जीवदया के सनप रागभाव हो भी जाता है तो वह पवन का कारण नहीं होता, प्रत्युत पुरुषानुबन्धी पुरुष का कारण होता है। पुरुषानुबन्धी पुरुष का अर्थ है कि अशुभ कर्म की अधिकांश में निर्जरा होता है और शुभ कर्म का बन्ध होता है। वह शुभ कर्म वहाँ भी सुख-जनक होता है और अविष्य मे-अन्तर्गत में भी। पुरुषानुबन्धी पुरुष का कर्ता सुख पूर्वक मोह की ओर अग्रसर होता है। यह उहाँ भी जाता है, इच्छालुत्तर परैष्य प्रसन्न करता है और उस परैष्य को स्वयं भी भोगता है एवं उत्तम जन-कल्याण भी करता है। जैन धर्म के तीर्थंकर इसी उच्च पुरुषानुबन्धी पुरुष के भागी हैं। तीर्थंकर नाम गोत्र उत्कृष्ट पुरुष की दशा में प्रसन्न होता है। आप को मान्य है, तीर्थंकर नाम गोत्र कैसे बंधता है ? अरिहन्त सिद्ध भगवान का पुण्यमान करने से, ज्ञान दर्शन की आराधना करने से, सेवा करने से आदि आदि। इसका अर्थ तो यह हुआ कि अरिहन्त सिद्ध भगवान की स्तुति करना भी राग

भाव है, ज्ञान दर्शन की आराधना भी राग भाव है ? यदि ऐसा है, तब तो भाव के विचार से वह भी भक्तवैष्य ही ठहरेगा । यदि वह भक्त भी भक्तवैष्य ही है, फिर साधना के नाम से हमारे पास रहेगा क्या ? भाव कह सकते हैं कि अरिहन्त आदि की स्तुति और ज्ञानादि की आराधना यदि निष्काम भाव से करें तो हमें मीठा मोड़ पर प्राप्त होगा । यदि संयोगवश कभी रागभाव हो भी जाय तो वह भी योग्यकारि पर का कारण भूल होने से लाभ प्रद ही है, हानि प्रद नहीं । इसी प्रकार हम भी कहते हैं कि सामायिक में वा किसी भी चरम दशा में मोहल्ला करना मनस्य का एक कर्तव्य है, उसमें राग कैसा ? वह तो कर्मनिर्वरा का मार्ग है । यदि किसी साधक को कुछ रागभार या तो ज्ञान तब भी कोई हानि नहीं । वह उपगुण्ड दृष्टिसे गुणवानुबन्धी गुण का मार्ग है अतः प्रकल्प स्वास्त्य नहीं ।

'साधन' का संस्कृत रूप 'साधन्य' भी होता है । साधन्य का अर्थ है — निम्नताप, निम्नता के वास्य । अतः जो कार्य निम्ननीय हैं, निम्नता के वास्य ही इनका सामायिक में ग्राह्य किया जाता है । सामायिक की साधना एक असाध्य वास्यनिर्मेद साधना है । हमें साधना को निम्ननीय कभी न बनाकर साधन रूप कर, निर्मेद किया जाता है । साधना की साधन बनाने बाद निर्मेद करने वाले कदापि भाव है और कोई नहीं । तब वर्तमान का मूल में असाध्य भाव रहता ही, और, मान, माना और जान का भाव रहता ही, वे सब साधन्ये कार्य हैं । साधन्य कह सकते हैं कि जनवस्य का मूल एक साध्य असाध्य भाव में है, असाध्य नहीं । यही साधन्य का असाध्य मत होता है, साधन्ये कर्मवस्य भी मत होता है और इसका अर्थसाध्य असाध्य असाध्य भाव की वस्यता होती है । साधन्ये जनवस्य की भी वस्यता होता है । तब असाध्य मत का अर्थसाध्य असाध्य का असाध्य है तब व सामायिक कर्मवस्य का भी असाध्य होता है । अतः तब सामायिक कर्मवस्य का असाध्य होता है तो साधन्ये असाध्य असाध्य असाध्य असाध्य की मूलिका पर पहुँच जाय

है। अतः आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करना है कि कौन कार्य निन्दनीय है और कौन नहीं ? इसका सीधा सा उत्तर है कि जिन कार्यों को पृष्ठ-भूमि में कषाय भावना रहो हुई हो, वे निन्दनीय हैं और जिन कार्यों की पृष्ठ-भूमि में कषाय भावना न हो, अथवा प्रशस्त उद्देश्य पूर्वक अल्प कषाय भावना हो तो वे निन्दनीय नहीं हैं। अस्तु तान्मायिक में साधक को वह कार्य नहीं करना चाहिए जो क्रोध, मान, आदि कार्मायिक परिस्थिति के कारण होता है। परन्तु जो कार्य सनभाव के साधक हों, कषाय भाव को घटाने वाले हों, वे अरिहन्त सिद्ध को स्तुति, ज्ञान का ग्रन्थास, पुण्यनों का सत्कार, ध्यान, जीवदया, सत्य आदि अवरण करायोय हैं।

अस्तु सावर्ण्य अर्थ पर भी उन सज्जनों को विचार करना चाहिए, जो तान्मायिक में जीवदया के कार्य में पाप पतते हैं। यदि तान्मायिक के साधक ने कितनी ऊँचाई से पढ़ते हुए अनभोज बाळक को सावधान कर दिया, कितनी धंधे धारक के आसन के नीचे दबते हुए जीव को रखा दिया, तो वहां निन्दा के योग्य कौनसा कार्य हुआ ? क्रोध, मान, नाश और लोभ में से कितने कषाय भाव का उदय हुआ ? किन् कषाय को तंत्र परिरक्षित हुई, जिससे एकान्त पान कर्म का रंध हुआ ? कितनी भी सत्य को सनन्त के लिए हृदय को निष्पक्ष एवं सरल बनाया हो होगा। जब तक निष्पक्षता के साथ दर्शन शास्त्र को गंभीरता में नहीं उतरा जाएगा, तबतक सत्य के दर्शन नहीं हो सकते। दर्शन शास्त्र कहता है कि पाप के नान मात्र से भयभीत होने का आवश्यकता नहीं है। अत्येक कार्य में, प्रवृत्ति में यदि पाप ही देखोगे तो फिर धर्म के दर्शन कहां से होंगे ?

अतः सत्य बात तो यह है कि कितनी भी प्रवृत्ति में स्वयं प्रवृत्ति के रूप में पाप नहीं है। पाप है उक्त प्रवृत्ति की पृष्ठ-भूमि में रहने वाले स्वार्थ भाव में, कषाय भाव में, राग-द्वेष के दुर्भाव में। यदि यह सब कुछ नहीं है, साधक के हृदय में पवित्र एवं निर्मल कल्याण आदि का ही भाव है तो फिर कितनी भी प्रकार का पाप नहीं है।

सूत्र पाठ में 'आम नियम' है, उससे दो घड़ी का अर्थ कैसे लिए जाता है ? आम नियम का भाव तो 'जब तक नियम है तब तक' ऐसा होता है ? हमको अधिकार तो यह हुआ कि यदि वेदवद या वीम विमद आदि की सामाजिक करणी हो तो वह भी की जा सकती है।

उक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि सामाजिक साहित्य में सुदृष्ट की सामाजिक के काज का कोई विशेष उल्लेख नहीं है। सामाजिक में कहा नहीं सामाजिक आदि का वर्णन आया है, नहीं नहीं कहा है कि सामाजिक को प्रकार की है—इतिहास और वास्तविक। इतिहास वास्तविक की होती है और वास्तविक वास्तविक की। परन्तु वास्तविक आचारों के दो घड़ी का नियम निश्चित कर दिया है। इस निश्चित का कारण काज-सम्बन्धी सम्बन्धों की दूर करना है। दो घड़ी का एक सुदृष्ट कहा है, अतः इतिहास भी सामाजिक करनी हो उसी दिशा से सामाजिक के आगे सुदृष्ट एक, सुदृष्ट दो इत्यादि बोझना चाहिए।

सामाजिक में हिमा, अन्धकार आदि पाप करने का त्याग केवल ही और इतिहास के ही किया जाता है, अनुमोदन सुखा रखा है। कहा प्रत्यक्ष है कि सामाजिक में पाप करने लगे करना नहीं और सुखों से अन्धकार भी नहीं, परन्तु क्या पाप करने का अनुमोदन किया जा सकता है ? वह तो कुछ उचित नहीं जान पड़ता। सामाजिक में देखे बाधा मानक दिया की प्रतीति करे, अन्धकार का समर्थन करे, जोरी और अन्धकार की प्रतीति के लिए बाध-बाध करे, किसी को मारने-मारे देकर दण्ड—एक अन्धकार किया' करे तो वह सामाजिक क्या हुई, एक प्रकार का न उचित आचार हो ही गया।

इस में निश्चित है कि सामाजिक में अनुमोदन अन्धकार सुखा रखा है। अन्धकार उन्धकार बहुत अर्थ नहीं कि सामाजिक में देखे बाधा अन्धकार का अन्धकार करे, अनुमोदन करे। सामाजिक में तो अन्धकार के अन्धकार का कुछ भी बाध दूरक से न रखा जायित। सामाजिक में किसी की अन्धकार का अन्धकार हो, न लगे अन्धकार है, न सुखों के

तानापिक सूत्र का प्रायः प्रस्तुत प्रतिज्ञा सूत्र ही है। अतएव इस पर काफ़ी विस्तार के साथ लिखा है, और इतना लिखना आवश्यक भी था। अब उपसंहार में केवल इतना ही निवेदन है कि यह तानापिक एक प्रकार का आध्यात्मिक व्यापान है। व्यापान भले ही थोड़ी देर के लिए हो, दो घड़ी के लिए ही हो परन्तु उसका प्रभाव और -ज्ञान स्थायी होता है। जिस प्रकार ननुज्य प्रातःकाल उठते ही कुछ देर व्यापान करता है, और उसके फलस्वरूप दिन भर शरीर की स्थिति एवं शुद्धि बना रहती है, उसी प्रकार तानापिक रूप आध्यात्मिक व्यापान भी साधक को दिनभर की प्रवृत्तियों में नव की स्थिति एवं शुद्धि को बनाए रखता है। तानापिक का उद्देश्य केवल दो घड़ी के लिए नहीं है, ननुज्य जीवन के लिए है। तानापिक में दो घड़ी बैठकर आप ध्यान धारण स्थिर करते हैं, बाह्यभाव से हटकर स्वभाव में रम्य को कला बनते हैं। तानापिक का अर्थ ही है—ध्याना के साथ अर्थात् धरने धारके साथ एक रूप हो जाना, समभाव ग्रहण कर लेना, राग-द्वेष को द्रोह देना। आचार्य पूज्यपाद कहते हैं—‘तन्’ एकी भावे वर्तते एकीकृत-अपवर्जमानवं समग्र। समग्र एव तानापिकम्—सर्वार्थ सिद्धि। हाँ तो, धरनी ध्याना के साथ एक लगता केवल दो घड़ी के लिए ही नहीं, जीवनभर के लिए प्राप्त करना है। राग द्वेष का त्याग दो घड़ी के लिए कर देने भर से काम नहीं चलेगा, इन्हीं ती जीवन के हर क्षेत्र से सदा के लिए सदैवना होगा। तानापिक जीवन के समस्त सर्गुणों को आधार माने है। आधार को ही मानुं तो सा स्पष्ट नहीं, विलुप्त होता चाहिए। साधना के लक्ष्यकोट को संनिध रखना, महा पार है। साधना तो जीवन के लिए है, फलतः जीवन भर के लिए अविच्छिन्न अविच्छिन्न के लिए है। देखना, सावधान रहना। साधना की बीड़ा का धर सर कभी बन्द न होने पार—बन्द न होने पार। ‘तन्’ है धृता ननुजन् मर्या मुक्त विस्तार में है, व्यापि के है, साधन में है, धन्य नहीं।

: १० :

प्रणिपात-सूत्र

नमोत्पुणं अरिहूताण, भगवताण ॥१॥

आइगराण, तित्थयराणं, सपंसंबुदाणं ॥२॥

पुरिमुत्तमाण, पुरिस-सोहाण, पुरिस-वर-पुह-

रीयाण, पुरिसवर-गघहत्थीणं ॥३॥

लोगुत्तमाण, लोग—नाहाणं,

लोग हियाण, लोग-पईवाणं,

लोग-पग्गोयगराण ॥४॥

अमयदयाण चक्खुदयाण,

मग्गदयाण, मग्गदयाण,

जीव-दयाण, बोद्धिदयाण ॥५॥

घम्मदयाण, घम्म-देमयाण, घम्मनायणाणं,

घम्म-सारहीण, घम्मवर-आउरग-वक्कवहीणं ॥६॥

अण्हिहय-वर-नाण-दमण-पराण,

विअट्ट-छउमाण ॥७॥

विद्याण, ज्ञावयाण, निन्नाण, तारयाण,

बुडाण, बोद्धयाण, मुभाण, भोयणाणं ॥८॥

सर्वलूनं, सर्वदरित्रीणं, त्रिवन्मलमलय-
नन्तनस्तपनव्यापाहमपुणराविति सिद्धि-
गइ-नानधेयं ठाणं संपत्ताणं,
ननो जिणाणं विजयमाणं ॥६॥

शब्दार्थ

| | |
|---------------------------------|-------------------------------|
| ननेपुणं=वनस्तार हो | धनपदपारं=धन देनेवाले |
| धरिदरं=दरिद्र | चस्तुदपारं=नेत्र देनेवाले |
| भयंवारं=भगवान को | मगदपारं=धर्ममार्ग के दाता |
| (भगवान् कैसे हैं ?) | सत्पदपारं=शरय के दाता |
| प्रदपारं=धर्म की प्राप्ति करने | जतिदपारं=जीवन के दाता |
| वाले | सोदिदपारं=सोधि = सम्पत्त्य के |
| विजयणं=धर्म तीर्थ की स्थापना | दाता |
| करने वाले | धम्मदपारं=धर्म के दाता |
| सं=स्वयं हो | धम्मदेवपारं=धर्म के उपदेष्टा |
| संभारं=सम्पत्ति को देनेवाले | धम्मनारपारं=धर्म के वादक |
| पुत्तिवपारं=पुरुषों में भेद | धम्मसारति=धर्म के सारथि |
| पुत्तिवलोपारं=पुरुषों में सिद्ध | धम्मपर=धर्म के भेद |
| पुत्तिवपारं=पुरुषों में भेद | पादपारं=पाद गति का धर्म |
| गन्धहस्ता | करनेवाले |
| संभुवपारं=शोक में उपम | सककपारं=सकवर्ती |
| संभुवपारं=शोक के साथ | अनविद=अविदित तथा |
| संभुवपारं=शोक के विवहारी | सन्तारसत्त=भेद शब्द दर्शन के |
| संभुवपारं=शोक में शोक | धरार=धर्म |
| संभुवपारं=शोक में उपोष | विजयजयणरं=जय में रहित |
| करनेवाले | विजय=विजय के विजेता |

आनन्दार्थ-स्वरों को चित्ताने वाले
 विज्ञानार्थ-स्वरों से हुए
 कारणार्थ-स्वरों को चारने वाले
 बुद्धिार्थ-स्वरों को मास, तथा
 बोधार्थ-स्वरों को बोध देने वाले
 मुक्तार्थ-स्वरों मुक्त
 मोक्षमार्थ-स्वरों को मुक्त करने
 वाले

सः पूर्णः = सर्वज्ञ
 सः परमेश्वरः = सर्वेश्वरी, तथा
 मित्रः = सख्यद्वयः सहितः
 सः परमः = परमेश्वरः, स्थितः
 सः परमः = परमेश्वरः

अर्णवः=अन्तरिक्ष
 अमलवः=अक्षय
 अम्भाराई=वायुमण्डल
 अपुषराविति=पुनरागमन से रहित
 (इति)

सिद्धिद्वार=सिद्धिगति
 नामधेय=नामक
 ठाण=स्थापन को
 धर्मसाग=ग्रह करनेवाले
 नमो=नमस्कार हो
 त्रिवभवाण=भव के तीनोंवाले
 त्रिगार्ग=त्रिव भगवान् को

भाग ५

भी अगिला जन्मान को नमस्कार हो । [अरिस्तु भगवान् देवें
हैं ?] धर्म की प्राप्ति करनेवाला है, धर्म तोष को त्यागना करनेवाला है,
धर्म प्राप्ति अर्थात् है ।

पुष्पा में चंद्र है, पुष्पों में शिखर है, पुष्पों में गुरुवरीक कमल है, पुष्पों में चंद्र वन्यामाली है। आनंद में उल्लास है, मोक्ष के नाच है, लोक के उत्सव है, आनंद में योग है, आनंद में उत्सव कायेनमं है।

[illegible]

एक गरीब के बच्चा दयालुता से उसे देख रहा था, बर्खास्त

सं श्रेष्ठ जनदरुन के धारण करनेवाले हैं, शानावरण आदि पाति कर्म से ब्रह्मा प्रमद से रहित हैं।

स्वयं रणदेय के जीतनेवाले हैं, दूसरों को जीतानेवाले हैं, स्वयं स्त्र-नगर से तर गए हैं, दूसरों को तारनेवाले हैं, स्वयं बोध पा चुके हैं, दूसरों को बोध देनेवाले हैं, स्वयं कर्म से मुक्त हैं, दूसरों को मुक्त करनेवाले हैं।

सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं। तथा शिव=कल्याणरूप अचल=स्थिर, अरुण=रोगरहित, अनन्त=अन्तरहित, अक्षय=क्षयरहित, अव्याबाध=बाधा-नगररहित, अपुनरावृत्ति=पुनरागमन से रहित अर्थात् जन्म-मरण से रहित तदेवाति नामक स्थान को प्राप्त कर चुके हैं, भय के जीतनेवाले हैं, रणदेय के जीतनेवाले हैं—उन जिन भगवानों को मेरा नमस्कार हो।

विवेचन

जैन धर्म की साधना अध्यात्म-साधना है। जीवन के कितों भी क्षेत्र में चलिण, कितों भी क्षेत्र में काम करिण, जैन धर्म आध्यात्मिक-जीवन को महत्ता को भुला नहीं सकता है। प्रत्येक प्रवृत्ति के पीछे जीवन में पवित्रता का, उच्चता का और अखिल विश्व को कल्याण करने का नंगल स्वर संकुत रहना चाहिण। जहाँ यह स्वर नन्द रहा कि कायक पवनोन्मुख हो जायगा, जीवन के महान् आदर्श मुला बैठेगा, संसार का धंधेरी गलियों में भटकने लगेगा।

मानव हृदय में अध्यात्म-साधना को बढ़ाचढ़ करने के लिये, उसे सुदृढ़ एवं सफल बनाने के लिये भारतवर्ष को दार्शनिक चिन्तन द्वारा वे तीन मार्ग बताये हैं—भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग। वैदिक धर्म की शाखाओं में इनके सम्यन्ध में काफ़ी नजदेक सम्बन्ध है। वैदिक विचारधारा के कितने ही संप्रदाय ऐसे हैं, जो भक्ति को ही सर्वोच्च मानते हैं। वे कहते हैं कि—'ननुष्य एक बुद्धि उत्तर न्याय है। यह ज्ञान और कर्म की क्या आराधना कर सक्य है! उसे जो करने

नन्त्र को शिक्षा के लिए कर्म योग की साधना अपेक्षित है।

जैन-दर्शन की अपनी मूल परिभाषा में उक्त तीनों को सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य के नाम से कहा गया है। आचार्य रत्नाकर उक्तार्थ सूत्र के प्रारंभ में ही कहते हैं—‘सम्यग् दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य मोक्ष-मार्गः।’ अर्थात् सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य ही मोक्ष-मार्ग है। ‘मोक्ष-मार्गः’ यह जो एक वचनान्त प्रयोग है, वही ध्वनित करता है कि उक्त तीनों मिलकर ही मोक्ष का मार्ग है, कोई सा एक या दो नहीं। अन्यथा ‘मार्गः’ न कह कर ‘मार्गाः’ कहा जाता; बहु वचनान्त उद्देश-प्रयोग किया जाता।

यह ठीक है कि अपने-अपने स्थान पर तीनों ही प्रधान हैं, कोई एक मुख्य और गौण नहीं। परन्तु मानस शास्त्र की दृष्टि से एवं आत्मों के अनुशोदन से यह तो कहना ही होगा कि आध्यात्मिक-साधना को यात्रा में भक्ति का स्थान कुछ पहले है। यहीं से धृष्टा की विनय-गंगा आगे के दोनों योग क्षेत्रों को प्लावित, पल्लवित, पुष्पित एवं प्रसृत करता है। भक्ति शून्य नीरस हृदय में ज्ञान और कर्म के कल्प-वृक्ष हर्षित नहीं पनप सकते। यही कारण है कि सान्नायिक सूत्र में सर्वप्रथम नवकार नन्त्र का उल्लेख आया है, उसके बाद सम्यक्-सूत्र, गुरु-गुण स्मरण सूत्र और गुरु-बन्धन सूत्र का पाठ है। भक्ति को वेगवती धारा यही तक समाप्त नहीं है। आगे चलकर एक बार को वेगवती धारा यही तक समाप्त नहीं है। आगे चलकर एक बार स्थान में तो दूसरी बार प्रकट रूप से चतुर्विंशतिस्तय सूत्र खंगल के पढ़ने का नंगल विधान है। खंगल भक्तियोग का एक बहुत सुन्दर एवं मनोरम रेखाचित्र है। आराध्य देव के धी चरणों में अपने भावुक हृदय को समग्र धृष्टा अर्पण कर देना, एवं उनके यथाष्ट नार्य पर चलने का रट संकल्प रखना ही तो भक्ति है। और यह खंगल के पाठ में हर कोई भद्रालु भक्त सहज ही पा सकता है। खंगल के पाठ से पवित्र हुई हृदय-भूमि में ही सान्नायिक का योजारोपण किया जाता है। पूर्व संनन का महान् कल्प वृक्ष इसी सान्नायिक के सूक्ष्म योज में

विनष्ट आदर्श' सुखों का अन्तिम सुखपर परिचय दिया गया है। तीर्थंकर आचर्य को स्तुति भी हो, और माध-माध उनके महाप्रद्विषय सुखसुखों का अर्थ भी हो, यही नमो-पुण्य सूत्र का विशेषता है। 'यत्तु नमो सर्वार्थोपपत्त्या' कीकीनित यहाँ पूर्वतया परिचय हो जाती है। सुखकार ने नमो-पुण्य में अगवार्क के जिन अनुपम सुखों का अगल गाव किया है, उन में प्रत्येक सुख इतना विशिष्ट है, इतना प्रभावक है कि कुछ पूर्ण नहीं। अन्त के लक्ष्य उत्पन्न हृदय से आर प्रत्येक सुख पर विचार काविष्ट, चिन्तन काविष्ट, मनन काविष्ट, आर को एक-एक क्षण में, एक-एक माया में अर्थात्किक अमलार भरा नम्र भावना। 'सुखं सुखं ध्यानं सुखं न च तिम न च नरा' का महान् दार्शनिक बोध, यदि आर अक्षर-अक्षर में माया-माया में से अविष्ट होता हुआ नमना पाइते हैं, तो अर्थिक नहीं, केवल नमो-पुण्य का ही भावना-भो हृदय में बैठ कीविष्ट। आरको इन्ना में सब कुछ मिल जायगा।

अविष्कार—आचर्य देव अविदन्त होते हैं। अविदन्त दुष्ट विना योतानता हो हो नहीं सकते। दोनों में कार्य-कारण का अद्वैत सम्बन्ध है। अविदन्तता कारण है तो योतानता, उत्तमा कार्य है। जैन धर्म नियम का धर्म है, पराधर्म का नहीं। श्रद्धाओं को उद-मूल से नष्ट करने वाला धर्म है, उत्तमो गुजामा करनेवाला नहीं। यही कारण है कि सन्तुर् जैन-माहिष्य अविदन्त और जिन के समताचरण से प्रारम्भ होता है, और धन में इनसे हा समल होता है। जैन-धर्म का मूल मंत्र नमकार है, उनमें भी सर्व-प्रथम 'नमो-अविदन्तार' है। जैन-धर्म को साधना का मूल सम्मग दर्शन है उसके प्रतिष्ठा सूत्रमें भी सर्व-प्रथम 'अविदन्तो नम देवो' है। अतएव प्रस्तुत नमो-पुण्य सूत्र का प्रारम्भ भी 'नमो-पुण्य अविदन्तार' से ही हुआ है। जैन सत्सृति और जैन विचार-धारा का मूल अविदन्त हा है। जैन-धर्म को समझने के लिए अविदन्त शब्द का समझना, अत्यावश्यक है।

अविदन्त का अर्थ है—'श्रद्धाओं को हनन करने वाला। आर प्रम

पाठक प्रश्न कर सकते हैं कि धर्म तो अनादि है, उसकी आदि कैसी उत्तर है कि धर्म अवश्य अनादि है। जब से यह संसार संसार का बन्धन है, तभी से धर्म है, और उसका फल मोक्ष भी। जब संसार अनादि है, तो धर्म भी अनादि ही हुआ। परन्तु यहाँ धर्म की आदि करने वाला कहा है, उसका अभिप्राय यह है कि अद्वैत भगवान् धर्म का निर्माण नहीं करते, प्रायुक्त धर्म की व्यवस्था। धर्म की मर्यादा का निर्माण करते हैं। अपने-अपने युग में धर्म में विकार आ जाते हैं, धर्म के नाम पर जो मिथ्या आचार फैल जाते उनकी शुद्धि करके नये सिरे से धर्म की मर्यादाओं का विधान करते हैं। अतः अपने युग में धर्म की आदि करने के कारण अरिहन्त भगवान् 'आदिकर' कहलाते हैं।

हमारे विद्वान् जैनाचार्यों की एक परम्परा यह भी है कि अरिह भगवान् धृत धर्म की आदि करने वाले हैं, अर्थात् धृत धर्म निर्माण करने वाले हैं। जैन साहित्य में आचारांग आदि धर्म सूत्रों धृत धर्म कहा जाता है। भाव यह है कि तीर्थंकर भगवान् पुराने शास्त्रों के अनुसार अपनी साधना का मार्ग नहीं तैयार करते। उन जीवन, अनुभव का जीवन होता है। अपने आत्मानुभव के द्वारा अपना मार्ग तय करते हैं और फिर उसी को जनता के समक्ष रखते हैं। पुराने पोथी पत्रों का भार छोड़कर चलना, उन्हें अभीष्ट नहीं है। हर एक युग का द्रव्य, संश्र, काल, और भाव के अनुसार अलग अलग शास्त्र होना चाहिए, अलग विधि विधान होना चाहिए। उस जनता का वास्तविक हित हो सकता है, सम्पन्न नहीं। जो शास्त्र पाल् युग की अपनी दुरुह गुणियों को नहीं सुझा सकते, वर्तमान परिस्थितियों पर प्रकाश नहीं डाल सकते, वे शास्त्र मानवजाति अपने वर्तमान युग के लिए अकिञ्चित्कर हैं, अन्यथा सिद्ध है। वही कारण है कि तीर्थंकर भगवान् पुराने शास्त्रों के अनुसार हूबहू न स्वयं चलते हैं, न जनता को चलते हैं। स्वानुभव के बल पर नये शास्त्र

और बड़े विधि-विधान निर्माण कर के जनता का कल्याण करते हैं, अतः वे धार्मिक कहलाते हैं। उक्त विवेचन पर से उन सज्जनों का समाधान भी हो जायगा, जो यह कहते हैं कि धार्मिकता जो तब सार्वत्रिक मिल रही है, वे भगवान् महाशय के उपाधिपक्ष ही मिल रहे हैं, भगवान् सार्वत्रिक धार्मिक के क्यों नहीं मिलते ?

तीर्थकार—धर्मद्वारा भगवान् तीर्थकार कहलाते हैं। तीर्थकार का अर्थ है—तीर्थ का निर्माता। जिसके द्वारा ससार रूप दुनोर-भाषा का वह सुविधा के साथ तिरा जाय, वह धर्म तीर्थ कहलाता है। और इस धर्म-तीर्थ की स्थापना करने के कारण भगवान् महाशय धार्मिक तीर्थकार कहे जाते हैं।

घाटक जानते हैं, नदी का प्रवाह तीरना कितना कठिन कार्य है। सधारण मनुष्य तो देखकर ही भयभीत हो जाते हैं, चन्द्र पुंसने का सारस हा नहीं कर पाते। परन्तु जो अनुभवी ठौराक हैं, वे साहस करके चन्द्र पुंसने हैं, और मालूम करते हैं कि किस ओर पानी का बग कम है; कहा पानी पिपुला है; कहा जलपर जाय नहीं है, कहा भंवर और गतं आदि नहीं है, अतः कौनसा मार्ग सँ साधारण जनता को नदी पार करने के लिए ठीक रहेगा ? ये साहसी ठौराक ही नदी के घाटों का निर्माण करते हैं। संस्कृत भाषा में घाट के लिए तीर्थ शब्द प्रयुक्त होता है। अतः ये घाट के बनाने वाले ठौराक, लोक में तीर्थकार कहलाते हैं। हमारे तीर्थकार भगवान् भी इसी प्रकार घाट के निर्माता थे, अतः तीर्थकार कहलाते थे। आप जानते हैं, यह ससार रूपी नदी कितनी भयंकर है ? क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के हजारों विकार-रूप मगरमच्छ, भंवर और गतं हैं कि, जिन्हें पार करना सहज नहीं है। साधारण साधक इन विकारों के भंवर में फँस जाते हैं, और दूब जाते हैं। परन्तु तीर्थकार इसी में सर्वसाधारण साधकों की सुविधा के लिए धर्म का घाट बना दिया है, सदाचाररूपी विधिविधानों की एक निश्चित योजना तैयार करदी है, जिससे हरकोई साधक सुविधा के

के साथ इस भीषण नदी को पार कर सकता है ।

तीर्थ का अर्थ पुल भी है । बिना पुल के नदी से पार होना बड़े बड़े बलवान के लिए भी अशक्य है, परन्तु पुल बन जाने पर साधरण दुर्बल, रोगी यात्री भी बड़े आनन्द से पार हो सकता है । और तो क्या नन्ही सी चौड़ी भी इधर से उधर पार हो सकती है । हमारे तीर्थ-कर वस्तुतः संसार की नदी को पार करने के लिए धर्म का तीर्थ बना गए हैं, पुल बना गए हैं । साधु, साध्वी, भ्रातृक और भ्रातृकारूप चतुर्विध संघ की धर्म साधना, संसार सागर से पार होने के लिए पुल है । अपने सामर्थ्य के अनुसार इनमें से किसी भी पुल पर चढ़िए, किसी भी धर्म साधना को अपनाइए, आप परब्री पार हो जायेंगे ।

आप प्रश्न कर सकते हैं कि इस प्रकार धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाले तो भारतवर्ष में सर्वप्रथम श्री आपमदेवजी हुए थे; अतः वे ही तीर्थकर कहलाते आदिष्ट । दूसरे तीर्थकरों को तीर्थकर क्यों कहा जाता है ? उत्तर में निवेदन है कि प्रत्येक तीर्थकर अपने युग में प्रचलित धर्म परम्परा में समानुसार परिवर्तन करता है, अतः नये तीर्थ का निर्माण करता है । पुराने घाट जब खराब हो जाते हैं, तब नया घाट ढूँढा जाता है न ? इसी प्रकार पुराने धार्मिक विधानों में विकृति आ जाने के बाद नये तीर्थकर, समाज के समक्ष नए धार्मिक विधानों की योजना उपस्थित करने हैं । धर्म का प्राण बही होता है, कलेवर बदल देते हैं । जैन समाज प्रारम्भ से केवल धर्म की मूल भावनाओं पर विराम कर रहा है, न कि पुराने शब्दों और पुरानी पद्धतियों पर । जैन तीर्थकरों का शासन-भेद, उदाहरण के लिए भगवान् पार्ष्वनाथ और भगवान् महावीर का शासन भेद, मेरी उपयुक्त मान्यता के लिए उल्लेखनीय मान्य है ।

राजमन्बुद्ध—तीर्थकर भगवान् स्वयमम्बुद्ध कहलाते हैं । राजमन्बुद्ध का अर्थ है—अपने आप प्रबुद्ध होने वाले, बोध पाने वाले । इनमें से जो लोग ऐसे हैं, जो जगत् पर भी नहीं जागते

उनकी अज्ञान निद्रा अत्यन्त गहरी होती है। कुछ खोम ऐसे होते हैं, जो स्वयं तो नहीं जाग सकते, परन्तु दूसरों के द्वारा जगाये जाने पर अचरम जाग उठते हैं। यह ऐसी साधारण साधको की है। तीसरी ऐसी उम महापुरुषों की है, जो स्वयमेव समय पर जाग जाते हैं, मोह-माया की निद्रा त्याग देते हैं, और मोहनिद्रा में प्रवृत्त विरवको भी अपनी एक लज्जकार मे जगा देते हैं। हमारे तार्किक इसी ऐसी के महापुरुष हैं। तार्किक देव किसीके बलापुष्ट पथ में निर्धारित पथ पर नहीं चलते। वे अपने और विरव के उत्थान के लिए स्वयं अपने आप अपने पथ का निर्माण करते हैं। तार्किक को पथ प्रदर्शन करने के लिए न कोई गुरु होता है, और न कोई शास्त्र। यह स्वयं ही पथ प्रदर्शक है, स्वयं ही उम पथ का धारक है। यह अभा पथ स्वयं खोज निकालता है। स्वा-पञ्चमन का यह महान् आदर्श, तार्किकों के जीवन में फूट-फूट कर भरा होता है। तार्किक देव सभी गली और स्थल हुई पुरानो परम्पराओं को विन्न-भिन्न कर अनहित के लिए नई परम्पराएं, नई योजनाएं स्थापित करते हैं। उनकी प्राति का पथ स्वयं अपना होता है, यह कभी भी अनुयायेपी नहीं होता।

पुरुषोत्तम—तार्किक भगवान् पुरुषोत्तम होते हैं। पुरुषोत्तम, अर्थात् पुरुषों में उत्तम=प्रेष्ठ। भगवान् के क्या पाद और क्या आभ्यन्तर; दोनों ही प्रकार के गुण अर्जौकिक होते हैं, असाधारण होते हैं। भगवान् का रूप त्रिभुवनमोहक। भगवान् का तेज सूर्य को भी हत-प्रभ बना देने वाला। भगवान् का मुखचन्द्र सुर-नर-नाग नयन मनहार! भगवान् के दिव्य शरीर में एक से एक उत्तम एक हजार आठ लक्ष होते हैं, जो हर किन्मा दर्शक को उनकी महत्ता की सूचना देते हैं। वज्रवर्भनाराय सदन और सनघतुरस्य संस्थान का सौंदर्य तो अत्यन्त ही अद्भुत होता है। भगवान् के परमौदारिक शरीर के समग्र देवताओं का दीप्तिमान वैज्रिय शरीर भी बहुत तुच्छ एवं नगण्य मालूम देता है। यह तो है पाद प्रेरण की बात। अब जरा अन्तरंग प्रेरण की

वैरा करने वाले मन के विकार ही तो हैं। अतः उनका आक्रमण व्यक्ति पर न होकर व्यक्ति के विकारों पर होता है। अपने दया, प्रेमा आदि सद्गुणों के प्रभाव से वे दूसरों के विकारों को शान्त करते हैं, फलतः दुष्ट को भी मित्र बना लेते हैं। तीर्थंकर भगवान् उक्त विवेचन के प्रकार में पुरुषसिंह हैं, पुरुषों में सिंह की वृत्ति रखते हैं।

पुणर्वर-पुण्डरीक-तीर्थंकर भगवान् पुरुषों में श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल के समान होते हैं। भगवान् को पुण्डरीक कमल की उपमा बड़ी ही सुन्दर दी गई है। पुण्डरीक श्वेत कमल का नाम है। दूसरे कमलों की अपेक्षा श्वेत कमल सौन्दर्य एवं सुगन्ध में अतीव उत्कृष्ट होता है। सम्पूर्ण सरोवर एक श्वेत कमल के द्वारा इतना सुगन्धित हो सकता है, जितना अन्य हजारों कमलों से नहीं हो सकता। दूर-दूर से भ्रमर-पुन्द सुगन्ध से आकर्षित होकर चले आते हैं, फलतः कमल के आस-पास भँवरों का एक विराट मेला-सालगा रहता है। और इधर कमल बिना किसी स्वायं-भाव के दिन रात अपना सुगन्ध विश्व को अर्पण करता रहता है। न उसे किसी प्रकार के बदले की भूख है, और न कोई अन्य वासना। पुष्प-चाप नूतन सेवा करना ही, कमल के उत्पन्न जीवन का आदर्श है।

तीर्थंकरदेव भी मानव-सरोवर में सर्व-श्रेष्ठ कमल माने गए हैं। उन के आध्यात्मिक जीवन की सुगन्ध अनन्त होती है। अपने समय में वे पहिला और सत्य आदि सद्गुणों की सुगन्ध सर्वत्र फैला देते हैं। पुण्डरीक की सुगन्ध का अस्तित्व तो वर्तमान काजालध्वेन ही होता है, किन्तु तीर्थंकर देवों के जीवन का सुगन्ध तो हजारों-छाओं वर्षों बाद आज भी भ्रमरजनता के हृदयों को सहका रही है, छाज ही नहीं, भविष्य में भी हजारों वर्षों तक इसी प्रकार सहकाती रहेगा। महापुरुषों के जीवन की सुगन्ध को न दिया हो अवश्यिन्ना कर सकता है, और न काज ही। जिस प्रकार पुण्डरीक श्वेत होता है, उसी प्रकार भगवान् का जीवन भी योवराग भाव के कारण पूर्णतया बिम्बित श्वेत होता है। उसने कषाय-भाव का जरा भी मह नहीं होता। पुण्डरीक के समान भगवान् भी

नि स्वार्थभाष से जनता का कल्याण करते हैं, उन्हें किसी प्रकार की भी सांसारिक वासना नहीं होती। कमल अज्ञान-अवस्था में ऐसा करता है, जब कि भगवान् ज्ञान की अवस्था में निष्काम जनकल्याण की वृत्ति से करते हैं। यह कमल से भगवान की उच्च विशेषता है। कमल के पास भ्रमर ही आते हैं, जब कि तीर्थंकरदेव के आध्यात्मिक जीवन की सुगन्ध से प्रभावित होकर तीन लोक के प्राणी उनके चरणों में उपस्थित हो जाते हैं। कमल की उपमा का एक भाव और भी है, यह यह कि भगवान् तीर्थंकर दशा में संसार में रहते हुए भी संसार की वासनाओं से पूर्णतया निर्लिप्त रहते हैं, जिस प्रकार पानी से खपालव भरते हुए सरोवर में रहकर भी कमल पानी में लिप्त नहीं होता। कमल-पत्र पर पानी की बूंद रेखा नहीं डाल सकती, यह आगम-प्रसिद्ध उपमा है।

पुष्कर-गन्ध हस्ती—भगवान् पुरुषों में श्रेष्ठ गन्ध-हस्ती के समान हैं। सिंह की उपमा वीरता की सूचक है, गन्ध की नहीं। और पुष्करीक की उपमा गन्ध की सूचक है, वीरता की नहीं। परन्तु गन्ध-हस्ती की उपमा सुगन्ध और वीरता दोनों की सूचना करती है।

गन्ध हस्ती एक महान विलसण हस्ती होता है। उसके गण्डस्थल से सदैव सुगन्धित मद् जल बहता रहता है और उस पर भ्रमर-समूह गूँजते रहते हैं। गन्ध हस्ती की गन्ध हलनी तीव्र होती है कि कुछ भूमि में जाने ही उसकी सुगन्ध-मात्र से दूसरे हजारों हाथी प्रसन्न होकर भागने लगते हैं, उसके समक्ष कुछ दूर के लिए भी नहीं ठहर सकते। यह गन्ध हस्ती भारतीय माहिष्य में बड़ा मंगलकारी माना गया है। जहाँ यह रहता है, उस प्रदेश में अग्निवृष्टि और अनारृष्टि आदिके उपद्रव नहीं होते। सदा सुभिन्न रहता है, कभी भी दुर्भिन्न नहीं पड़ता।

तीर्थंकर भगवान् भी मानवजाति में गन्ध हस्ती के समान हैं। ज्ञान का प्रताप और तेज इतना महान है कि उनके समक्ष अस्वार्थ, वैर-विरोध, अज्ञान और पाप्मण्य आदि कितने ही बर्षों न भर्पकर ठहर ही नहीं सकते। चिरकाय से फैले हुए मिथ्या विरवास, भग-

बार को यहाँ के समस्त पुरुषों का दिव्य-मिन्न हो जाते हैं, सब और सब का हस्त-पद साक्षात् स्पर्श हो जाता है।

भगवान् मन्त्र हस्तों के समस्त विरल के विद् मंगलकारी हैं। जिस देश में भगवान् का पदार्पण होता है, उस देश में अतिदृष्ट, अनादृष्ट, अज्ञातों आदि किसी भी प्रकार के उपद्रव नहीं होते। यदि पड़ने से बचकर हो रहे हों तो भगवान् के पदार्पण ही सरके सर पुरुषों का शान्त हो जाते हैं। समस्त मन्त्र में तीर्थकर देश के चौकोर अतिशयों का स्थान है। यहाँ लिखा है कि 'यहाँ तीर्थकर भगवान् विराजमान होते हैं, यहाँ अज्ञान-ज्ञान सौ-सौ करोड़ तक नष्टान्तों आदि के उपद्रव नहीं होते। यदि पड़ने से हों तो शान्त हो शान्त हो जाते हैं।' यह भगवान् का विद्वान् नान् विरलितकर रूप है। भगवान् को नदिना केवल अनादृष्ट के काल कंध आदि उपद्रवों को शान्त करने में ही नहीं है, अतिदृष्ट मन्त्र उपद्रवों का शान्त में भी है।

अब किया जा सकता है कि अतिदृष्ट के एक प्रवृत्ति पंथ को को नान्मन्त्र के अनुसार जो जायों को रखा करना, उन्हें दुःख से बचाना सब है। दुःखों को भोगना, करने पावकों का अर्थ बुझना है। अतः भगवान् को यह जायों को दुःखों से बचाने की अतिशय स्त्री ! उत्तर में लिखित है कि भगवान् का जीवन नान्मन्त्र है। वे स्त्री आध्यात्मिक और स्त्री आध्यात्मिक मन्त्र से जनता के दुःखों को दूर कर शान्त का साक्षात् स्पर्श करते हैं। यदि दुःखों को अपने निमित्त से सुख पहुँचाना सब होता तो भगवान् को यह पावक-अतिशय निमित्त हो स्त्री। यह अतिशय तो दुःखानुबन्धा दुःख के द्वारा प्रकट होता है, अतः जनता का कल्याण करता है। इसमें पाप को क पना करना ही सब मन्त्र है। कौन करता है कि जायों को रखा करना पाप है ? यदि पाप है तो भगवान् को यह पापजनक अतिशय कैसे निजा ? यदि इच्छा रूप ही होता तो भगवान् स्त्री नहीं कितो परंतु की दुःख में बैठे रहे। स्त्री दूर-दूर देशों में जनता कर जनता का कल्याण करते

हो विधान्ति नहीं लेते; प्रत्युत अपने निकट संगम में जानेवाले अन्य सबको को भी माधना का पथ प्रदर्शित कर अन्त में अपने समान ही बना लेते हैं। तीर्थंकरों का ध्याता, सदा ध्याता ही नहीं रहता, वह ध्यान के द्वारा अन्तर्लोकशा ध्येयरूप में परिणत हो जाता है। उक्त सिद्धान्त की साक्षात् के लिए गौतम और पन्दिना आदि के इति-हस्त प्रसिद्ध उदाहरण हर कोई जिज्ञासु देख सकता है।

अनन्यदय—संसार के सब दानों में अनन्यदान श्रेष्ठ है। हृदय की करुणा अनन्यदान में ही पूर्णतया उत्तरंगित होती है। 'दायाण्य सेट्ठं अनन्य पायाणं'—सूत्र कृतांग ६ अभ्ययन। अस्तु तीर्थंकर भगवान् तीन लोक में अलौकिक एवं अनुपम दयालु होते हैं। उनके हृदय में करुणा का सागर ठाठ भरता रहता है। विरोधी से विरोधी के प्रति भी उनके हृदय से करुणा की धारा बहा करती है। गोरालक कितना उद्दण्ड पाया था ? परन्तु भगवान् ने तो उसे भी क्रुद्ध तपस्वी को तेजोलेख्य से उल्लते हुए बचाया। चण्ड कौशिक पर कितनी अनन्त करुणा की है ? तीर्थंकर देव उस युग में जन्म लेते हैं, जब मानव सन्ध्या अपना पथ भूल जाती है, फलतः सब ओर अन्याय एवं अत्याचार का दम्भ-पूर्ण साम्राज्य छा जाता है। उस समय तीर्थंकर भगवान् क्या स्त्री क्या पुरुष, क्या राजा, क्या रंक, क्या ब्राह्मण, क्या शूद्र, सभी को सम्मान का उपदेश करते हैं। संसार के निष्पात्य वन में भटकते हुए मानव सन्तुष्ट को सम्मान पर लाकर उसे निराकुल बनाना, अनन्यप्रदान करना, एक मात्र तीर्थंकर देवों का ही-महान् कार्य है।

चतुर्दय—तीर्थंकर भगवान् आँखों के देनेवाले हैं। कितना ही दृष्ट पुष्ट मनुष्य हो, यदि आँख नहीं तो कुछ भी नहीं। आँखों के अभाव में जीवन भार हो जाता है। अन्धे को आँख मिल जाय, फिर देखिए, कितना आनन्दित होता है ? तीर्थंकर भगवान् वस्तुतः अंधों को आँखें देने वाले हैं। जब जनता के ज्ञाननेत्रों के समस्त अज्ञान का जाला आ जाता है, सत्यासत्य का कुछ भी विवेक नहीं रहता है, तब

[illegible]

1. 1940년 1월 1일부터 1940년 12월 31일까지의 기간에 걸쳐
 1. 1940년 1월 1일부터 1940년 12월 31일까지의 기간에 걸쳐

2. 1940년 1월 1일부터 1940년 12월 31일까지의 기간에 걸쳐
 2. 1940년 1월 1일부터 1940년 12월 31일까지의 기간에 걸쳐

3. 1940년 1월 1일부터 1940년 12월 31일까지의 기간에 걸쳐
 3. 1940년 1월 1일부터 1940년 12월 31일까지의 기간에 걸쳐

4. 1940년 1월 1일부터 1940년 12월 31일까지의 기간에 걸쳐
 4. 1940년 1월 1일부터 1940년 12월 31일까지의 기간에 걸쳐

5. 1940년 1월 1일부터 1940년 12월 31일까지의 기간에 걸쳐
 5. 1940년 1월 1일부터 1940년 12월 31일까지의 기간에 걸쳐

6. 1940년 1월 1일부터 1940년 12월 31일까지의 기간에 걸쳐
 6. 1940년 1월 1일부터 1940년 12월 31일까지의 기간에 걸쳐

7. 1940년 1월 1일부터 1940년 12월 31일까지의 기간에 걸쳐
 7. 1940년 1월 1일부터 1940년 12월 31일까지의 기간에 걸쳐

8. 1940년 1월 1일부터 1940년 12월 31일까지의 기간에 걸쳐
 8. 1940년 1월 1일부터 1940년 12월 31일까지의 기간에 걸쳐

9. 1940년 1월 1일부터 1940년 12월 31일까지의 기간에 걸쳐
 9. 1940년 1월 1일부터 1940년 12월 31일까지의 기간에 걸쳐

10. 1940년 1월 1일부터 1940년 12월 31일까지의 기간에 걸쳐
 10. 1940년 1월 1일부터 1940년 12월 31일까지의 기간에 걸쳐

रूप को धारणरूपता है। जीवन में जितना अधिक जागरण, उतना ही अधिक संयम।

सनाधिक यत में भी अतिरिक्त आदि दोष लग जाते हैं। अतः नाभक को उनकी शुद्धि का विशेष लक्ष्य रखना चाहिए। यही कारण है कि सनाधिक को सनाधि के लिप्सूत्रकार ने जो प्रस्तुत पाठ लिखा है, उसने सनाधिक में लगने वाले अतिचारों की आलोचना की गई है। यत में नञिनता पैदा करने वाले दोषों में अतिचार ही मुख्य है, अतः अतिचार की आलोचना के साथ-साथ अतिरिक्त और अतिरिक्त की अलोचना स्वयं हो जाती है।

सनाधिक यत के पाँच अतिचार हैं—मनोदुष्प्रस्थान, वचन-दुष्प्रस्थान, रूपदुष्प्रस्थान, सनाधिक स्मृति भ्रंश, और सनाधिक अनवस्थित। संक्षेप में अतिचारों की व्याख्या इस प्रकार है—

(१) मन की सनाधिक के भावों से बाहर प्रवृत्ति होना, मन को सनाधिक-भ्रंशों में दौड़ाना, और सांसारिक कार्य-के लिप्सूत्र नष्ट-संस्थे में रूढ़ि रहना, मनो दुष्प्रस्थान है।

(२) सनाधिक के सनाधिक विवेक-रहित कटु, निष्ठुर एवं घरबील रूप रोजना, निरर्थक प्रस्ताव करना, कष्टान् बढ़ाने वाले साधन वचन कहना, वचन दुष्प्रस्थान है।

(३) सनाधिक में शारीरिक चरित्रता दिखाना, शरीर में कुप्रेष्य करना, बिना कारण शरीर को इधर उधर घुंझाना, घनायुधों से बिना देखे-भाजे चलना, रूप दुष्प्रस्थान है।

(४) जैसे सनाधिक को है अथवा किन्हीं सनाधिक प्रकरण को है, इस बात को ही भूल जाना, अथवा सनाधिक प्रकरण करना ही भूल बैठना, सनाधिक स्मृति भ्रंश है। भूल पडा में मात्र 'सह' शब्द का सदा अर्थ भी होता है। अतः इस दिशा में प्रस्तुत अतिचार का स्वर होना, सनाधिक सदाकाल-निरन्तर व करना। सनाधिक की साधना

नियम प्रति चावू रहनी चाहिए । कभी करना और कभी न करना, यह निरादर है ।

(५) सामायिक से ऊबना, सामायिक का समय पूरा हुआ या नहीं—इस बात का बार बार विचार जाना, अथवा सामायिक का समय पूर्ण होने से पहले ही सामायिक समाप्त कर देना, सामायिकमरिचित है ।

यदि सामायिक का समय पूर्ण होने से पहिले, जान बूझकर सामायिक समाप्त की जाती है, तब तो अनाचार है, परन्तु 'सामायिक का समय पूर्ण होगया होगा' ऐसा विचार कर समय पूर्ण होने से पहले ही सामायिक समाप्त कर दे, तो यह अनाचार नहीं, वायुन अनिचार है ।

मन—मन को गति नहीं मूल्य है । यह तो अपनी चंचलता किए बिना रहता ही नहीं । और ऊपर सामायिक के लिए मनसे भी सावध आचार करने का आग्रह किया है, अतः प्रतिज्ञा नंग हो जाने के कारण सामायिक तो नंग हो ही जाती है । अस्तु सामायिक करने की अथवा सामायिक न करना ही ठीक है, प्रतिज्ञा नंग का रूप तो नहीं लेगी ।

अनर सामायिक की प्रतिज्ञा के लिए धुः कोटि बताई गई है । अतः यदि एक मन की कोटि दूरनी है तो बाकी तीस कोटि तो बनी ही रहती है, सामायिक का लगेला नंग वा अभाव तो नहीं होगा । मनोकर अजन्त नंग की मूर्ति के लिए साधुकाशी ने पक्षपातपूर्णक निष्कर्षमिदकक का अंगन किया है । विष्णु के अथवा काम ही प्रायः न करना, मूल्यना है । सामायिक, निषेधजन्य है । जितना कर चर्च है, तिरस्कार अन्वय के द्वारा प्रतीति करना । अन्वय चावू रहिए, एक दिन सब पर निषेधक ही हो जायगा ।

प रि शि ष्ट

: १ :

विधि

सामायिक लेना

शान्त तथा एकान्त स्थान

भूमि का अच्छी तरह प्रनावन

रखेव तथा शुद्ध आसन

गृहस्थोचित पगड़ी या कोट आदि उतारकर शुद्ध पखों का उपयोग
सुसज्जिका लगाया

पूर्व तथा उत्तर की ओर मुख

[पद्मासन आदि से बैठकर या जिन-मुद्रा से खड़े होकर]

नमस्कार सूत्र=नमस्कार, तीन बार

सन्मन्त्र सूत्र=अरिहंतो, तीन बार

गुरुगुरु स्मरण सूत्र=पंचिदिय, एक बार

गुरु वन्दन सूत्र=विस्तुतो, तीन बार

[वन्दना करके आलोचना की आज्ञा लेना, और जिन-
मुद्रा से आगे के पाठ पढ़ना]

आलोचना सूत्र=ईशियायहियं, एक बार

उत्तरीकरण सूत्र=उत्त उत्तरी, एक बार

अनार सूत्र=अनार, एक बार

[पद्मासन आदि से बैठकर या जिन मुद्रा से खड़े होकर कायो-
त्सर्ग=ध्यान करना]

[पद्मासन आदि से बैठकर, या विनमुद्रा से खड़े
होकर कापोत्तर्ग=ध्यान करना]

कापोत्तर्ग=ध्यान में लोगत्स चन्द्रेषु निम्नतमरा तक

'ननो हरिहंताय' पढ़कर ध्यान खोलना

गण्ड रूप में लोगत्स सन्मुख एक बार

[दाहिना घुटना टेक कर, बायां खड़ा कर, उस पर अञ्जलि-
पद्म दोनों हाथ रखकर]

गण्डपद सूत्र=नमोऽस्तु दो बार

ललाटिक ललाटि सूत्र=पुष्पस्त नवनस्त आदि, एक बार

ललाटिक सूत्र=नमस्कार तीन बार

: २ :

संस्कृत-ज्ज्ञायानुवाद

(१)

ब्रह्मोत्कार—ब्रह्मोत्कार सूत्र

नमो ऽहंद्भ्यः

नमः सिद्धेभ्यः

नम आचार्येभ्यः

नम उपाध्यायेभ्यः

नमो लोके सर्वसाधुभ्यः

एष पञ्चनमस्कारः,

सर्व-पाप-प्रणाशनः ।

मङ्गलानां च सर्वेषां,

प्रथमं भवति मङ्गलम् ॥

(२)

अहिंसा—सम्यक्त्व सूत्र

अहंन् मम देव,

यावज्जीव सुसाधवः गुरुवः ।

जिन-प्रशस्तं तत्त्वं,

इति सम्यक्त्वं मया गृहीतम् ॥

(३)

पञ्चिदिय—गुरुगुण-स्मरण सूत्र

पञ्चेन्द्रिय-संवरणः,

तथा नवविधब्रह्मचर्यं-गुप्तिवरः ।

चतुर्विध-कषायमुक्तः,

इत्यष्टादशगुणैः संयुक्तः ॥१॥

पञ्चनहाव्रत-युक्तः,

पञ्चविधाचार-पालनसमर्थः ।

पञ्चसन्निवृत्तः त्रिगुप्तः,

षट्त्रिंशद्गुणो गुरुर्मम ॥२॥

(४)

विष्णुसूत्रो—गुरुवन्दन सूत्र

त्रिकुत्वः आदक्षिणं प्रदक्षिणां करोमि,

वन्दे,

नमस्त्यामि,

सत्करोमि, सम्मानयामि,

कल्याणम्,

मङ्गलम्,

दैवतम्,

चैत्यम्,

पर्युपासे,

मस्तकेन वन्दे ।

पाताना वमंजा निर्धातनार्थाय,
निष्ठाभि-भरोमि वायोत्तमं ।

(०)

अथ उक्तिसिद्धयं—आकारं सूत्रं

अन्धम उरुधनितेन, निःस्पृहितेन,
कामितेन, धुतेन,
वृन्निभतेन, उद्गारितेन,
वातनिस्तर्पण, अमर्षा,
पित्तमूच्छंसा,
मूत्रमैः अन्नसंचालः
मूत्रमैः श्लेष्मसंचालः,
मूत्रमैः दृष्टि-संचालः,
एवमादिभिः आकारैः,
अभङ्गः अविराधितः,
भवतु मे कायोत्तमः ।
यावदहंता भगवता
ननत्कारेण न पारयानि,
तावत्काय
त्यानेन, मोनेन, ध्यानेन,
आत्मानं प्युत्सृजानि !

(२)

योगस्त—चतुर्विंशतित्वस्य सूत्रं
लोकस्य उद्योतकरान्

(१)

ईरिषावद्विष्य—आलोचना सूत्र

इच्छाकारेण सन्दिशत भगवन् !
 ऐर्यापथिकी प्रतिक्रमामि, इच्छामि ।
 इच्छामि प्रतिक्रमितुम्,
 ईर्यापथिकाया विराधनायाम्, गमनायाम्
 प्राणाक्रमणे बोजाक्रमणे, हरिताक्रमणे,
 अवश्यायोत्तिग पनकदकमृत्तिका मर्कट सन्तानसक्रमणे,
 ये मया जोवा विराधिता
 एकेन्द्रिया, द्वीन्द्रिया, त्रीन्द्रियाः,
 चतुर्गिन्द्रिया पञ्चेन्द्रिया,
 अभिहता वतिता, श्लेषिता,
 सघानिता सघट्टिता, परितापिताः,
 कलामिता अबद्राविता,
 स्थानान् स्थान सप्रामिता,
 जोविनाद् व्यपगोपिता,
 तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम्

(२)

तस्म उत्तरी—उत्तरीकरण सूत्र

तस्य उत्तरीकरणम्
 प्रथित्विन्न-करणम्,
 विशाधी-करणम्
 विशाधी-करणम्

पापना कर्मणा निर्घातनार्थाय,
तिष्ठानि-करोमि बायोत्तमम् ।

(७)

अथ उक्तिसिद्धं—आकृत एव

अन्धम उच्छ्वसितेन, निःस्पृहितेन,
कामितेन, क्षुतेन,
वृन्नितेन, उद्गारितेन,
वातनित्तरेण, भ्रमया,
पित्तमूच्छंदा,
सूक्ष्मः अङ्गसंचालः
सूक्ष्मः श्लेष्मसंचालः,
सूक्ष्मः दृष्टि-संचालः,
एवमादिभिः आकारैः,
अनन्तः अविराधितः,
भवतु मे कायोत्तमः ।
यावदहंता भगवतां
नमस्कारेण न पारयामि,
तावत्काय
स्यानेन, मोनेन, ध्यानेन,
आत्मानं व्युत्तृजामि !

(८)

योगस्त—चतुर्विंशतिस्त्वय सुव

लोकस्य उद्योतकरान्

सामायिक सूत्र

धर्म-तीर्थंकरान् जिनान् ।

अहंत कीर्तयिष्यामि ,

चतुर्विंशतिमपि केवलिनः ॥१॥

ऋषभमजित च वन्दे ,

सभबमभिनदन च सुमति च ।

पद्म-प्रभ सुपाश्वं ,

जिन च चन्द्रप्रभ वन्दे ॥२॥

सुविधि च पुष्पदन्त ,

शीतल, श्रेयास, वासुपूज्य च ।

विमलमनन्त च जिन ,

धर्म शान्ति च वन्दे ॥३॥

कुन्धुमर च मल्लि ,

वन्दे मुनिमुव्रत नमिजिन च ।

वन्दे अरिष्टनेमि

पाश्वं तथा वद्धमान च ॥४॥

एव मया अभिष्टुता ,

विघ्नरजामला प्रहीणजरामरणाः ।

चतुर्विंशतिर्गपि जिनवरा

तीर्थंकरा मयि प्रसीदन्तु ॥५॥

कीर्तिना , वन्दिना , महिता ,

य एत लोकाभ्य उत्तमा सिद्धा ।

आगेम्य-बोधि-लाभ

समाधिवरमुत्तम ददतु ॥६॥

चन्द्रेभ्यो निर्मलवराः ,

आदित्येभ्योऽधिकं प्रकाशकराः ।

सागरधर-गन्धोराः ,

सिद्धाः निदिं नम दितान्तु ॥६॥

(१)

करोमि भन्ते—सामायिक सूत्र

करोमि भदन्त ! सामायिकम् ,

सावयं योग प्रत्याख्यामि ,

यापन्निपम पर्युपासे ,

द्विविधं ,

त्रिविधेन ,

मनसा, वाचा, कार्पेन ,

न करोमि, न कारयामि ,

तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमानि

निन्दामि, गहं

आत्मानं व्युत्सृजामि ।

(१०)

नमोऽस्तु—प्रतिपाद सूत्र

नमोऽस्तु—

अहंद्भ्यः, भगवद्भ्यः ,

आदिकरेभ्यः , तीर्थकरेभ्यः , न्ययसम्बुद्धेभ्यः ,

पुरुषोत्तमेभ्यः , पुरुषसिंहेभ्यः ,

पाँच पदों को ननस्कार यह,
नष्ट करे कलिनल भारो !
मंगलमूल अविल मंगल नै,
पापनीर जनता तारो !

(२)

अरिहंतो—सम्यक्त्वसूत्र

[सोपूपवर्ष की ध्वनि]

देव मन अहंन् विजेता कर्न के;
साधुवर गुरुदेव धारक धन के !
जिन-प्रभापित धन केवल तत्त्व है;
ग्रहण की नने यही सम्यक्त्व है !

(३)

पंचिदिय—गुरुगुह्यस्मरण सूत्र

[दिक्पाल की ध्वनि]

चंचल, चपल, हठीली नित पाच दन्दिनो का,—
उपर-निमयणा से भय-विष उतारते हैं !
नव गुप्ति गोल इन को नादर करेव पाले,
कलुषित कथाय चारो दिन रात टारते हैं !
पाचो महाप्रको के धारक मुर्धसंभाली,
आचार पाच पाले जीवन नुषारते हैं !
गुरुदेव पाच मानवी जीवनो मुमुक्षु धारो,
प्रतीति मुख विमल है, तिय पथ संसारते हैं !

: ३ :

सामायिक सूत्र हिन्दी पद्यानुवाद

(१)

नमोक्कार—नमस्कार सूत्र

[इङ्गम को ध्वनि]

नमस्कार हो अरिहतो को,
राग - द्वेष रिपु - सहारो !
नमस्कार हो श्री सिद्धो को,
अजर अमर नित अविकारी !
नमस्कार हो आचार्यों को,
सध-गिरोमणि आचारी !
नमस्कार हो उवज्झायो को,
अक्षय धृत-निधि के धारी !
नमस्कार हो साधु सभी को,
जग मे जग-ममता मारी !
त्याग दिए वैराग्य-भाव से,
भोग-भाव सब ससारी !

अपि च तस्यैव त्रिं तदावकाशः सदा,
 अत्रैव सदा सविन्दुरासादासीत् ।
 अद्वैतस्यैव सर्वभूतानां समस्तं हि,
 सविन्दुरेव तदावकाशः सदा ।

(४)

अविच्छिन्ना विच्छिन्नसंज्ञासंज्ञा

{ अष्टावक्रसंग्रह की पंक्ति }

अत्र सदा सविन्दुः सविन्दुः सदा सदा,
 सविन्दुः सदा सविन्दुः सदा सदा ।
 सविन्दुः सदा सविन्दुः सदा सदा सदा,
 सदा सदा सदा सदा सदा सदा सदा ।

(५)

विच्छिन्ना विच्छिन्नसंज्ञासंज्ञा

{ अष्टावक्रसंग्रह की पंक्ति }

अत्र सदा सविन्दुः सविन्दुः सदा सदा,
 सविन्दुः सदा सविन्दुः सदा सदा सदा ।
 सविन्दुः सदा सविन्दुः सदा सदा सदा,
 सदा सदा सदा सदा सदा सदा सदा ।
 सविन्दुः सदा सविन्दुः सदा सदा सदा,
 सदा सदा सदा सदा सदा सदा सदा ।
 सविन्दुः सदा सविन्दुः सदा सदा सदा,
 सदा सदा सदा सदा सदा सदा सदा ।

(७)

अन्नत्थ—आगारसूत्र

[रूपमात्रा की ध्वनि]

नाथ ! पामर जीव है यह, भ्रान्ति का भडार;
 अस्तु, कायोत्सर्ग में कुछ, प्राप्त है आगार !
 स्वास ऊँचा, स्वास नीचा, द्यौक अथवा काश;
 जृम्भणा, उद्गार, वातोत्सर्ग, भूम मतिनाश !
 पित्तमूर्च्छा, ओ अणु भी अणु का संचार;
 श्लेष्म का और दृष्टि का यदि सूक्ष्म हो प्रविचार !
 अन्य भी कारण तथाविध हैं अनेक प्रकार;
 चचलाकृति देह जिनमें शीघ्र हो सविकार !
 भाव कायोत्सर्ग मम हो, पर अखड अभेद्य;
 भावना-पथ है सुरक्षित देह ही है भेद्य !
 जीव कायोत्सर्ग, पढ़ नवकार ना लूँ पार;
 ताव स्वान, मुग्धों से स्थित ध्यान की झनकार !
 देह का सब भान भूलूँ साधना इक तार,
 आत्म-जीवन से हटाऊँ, पाप का व्यापार !

(८)

लोगस्म—चतुर्विंशतिस्त्व मूत्र

[हरिणीतिका की ध्वनि]

मं उद्योत-कर श्रीधर्म-स्तीर्य कर महा,
 चौबीस अहंन केवली बन्दू बखिल पापापहा !

श्री आदि नरपुंगव 'ऋषभ' जिनवर 'अजित' इन्द्रियजयो;
 संभव तथा अनिनन्द जी गोभा अमित नहिनानयो !
 श्री सुनति, पद्म, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, सुविधि त्रिनराज का;
 शीतल तथा ध्यान का तप तेज है दिनराज का !
 श्री वानुपुष्प, विमल, अनन्त, अनन्तशानी धर्म जी;
 श्री शान्ति, कुन्धु तर्पण अर, मल्ली, नशाए कर्म जी !
 भगवान् नुनिसुव्रत, गुणो ननो, नेमि, पार्श्व विनेश को;
 वर वन्दना है भक्ति से श्री वीर धर्म-दिनेश को !
 हो कर्ममल-विरहित जरा-मरणादि सब क्षय कर दिए ;
 चौबीस तीर्थंकर जिनेन्द्र हुनालु हों गुण-स्तुति किए !
 कीर्तित, महित, वन्दित सदा ही तिद्ध जो हैं लोक में;
 आरोग्य, बोधि, समाधि, उत्तम दे, न आएँ शोक में !
 राक्षस से निर्मल अधिक उज्ज्वल अधिक दिवसेश से;
 व्यामोह कुछ भी है नहीं, गंभीर तिम्रु जलेश से !
 शर की मधु-चातना अन्तर्हृदय में कुछ नहीं;
 । तिद्ध तुम सो तिद्धि मुन्दको भी मिले आशा यही !

(६)

करेमिभंते—सामायिक प्रतिज्ञा सूत्र

[धनाचरो को धनि]

उदन् ! सामायिक करता हूँ सनभाव.

पापरूप व्यापारो को कल्पना हुआता हूँ !

उन निपन धर्म-ध्यान की उपासना हूँ;

मुगल करण नोन योग से निभाता हूँ !

पापकारी कर्म मन, वच और, तन द्वारा;
स्वयं नहीं करता हूँ और न करवा
करके प्रतिक्रमण, निन्दा तथा गहंणा में;
पापात्मा को बोधिरा के विशुद्ध बनात

(१०)

नमोत्पुण्यं—प्रणिपात सूत्र

[तोड़ा की ध्वनि]

नमस्कार हो बीतराग अर्हन् भगवन् को
आदि धर्म की कर्ता श्री तीर्थंकर जिन को !
स्वयंबुद्ध हैं, भूतल के पुरुषों में उत्तम;
पुरुष-सिंह हैं, पुरुषों में अरविन्द महत्तम !
पुरुषों में है श्रेष्ठ गन्धहस्ती से स्वामी;
लोकोत्तम हैं, लोकनाथ हैं, जगद्हित-कामी !
लोक-प्रदीपक हैं, अति उज्ज्वल लोक-प्रकाशक;
अभयदान के दाता अन्तर चक्षु-विकाशक !
माग शरण, सद्बोधि, धर्म, जीवन के दाता;
सर्व धर्म के उपदेशक, अधिनायक दाता !
धर्म-प्रवर्तक, धर्म-चक्रवर्ती जग-जेता;
द्वीप-वाण-नामि-शरण-प्रतिष्ठामय शिवनेना !
श्रेष्ठ तथा अनिरुद्ध ज्ञान दर्शन के धारा,
छपरार्हन्, अज्ञान भ्रान्ति की सना डारी !
राम-द्वेष के जेता और जिताने वाले,
अधमाग्य से तोषा तर्क निराने वाले !

स्वयं बुद्ध हो, दोष भय्य जीवों को दीना;
 मृत और मोक्ष का पद भी उत्तम लीना !
 लोकलोक-प्रकारी अविचल केवल जानी;
 केवलदर्शी परम अहिंसक मुक्त-ध्यानी !
 मंगल-मय, अविचंचल, मूल्य सकल रोगों से;
 जघन, और जगत्, रहित बाधा-योगों से !
 एक बार जा वहां, न फिर वग न जाए है;
 नर्बलन वह स्थान मोक्ष का अचनाए है !
 (एक बार जा वहां, न फिर वग न जाना है;
 नर्बलन वह स्थान मोक्ष का अचाना है ।)
 नमस्कार हो श्री विन अंतर-रिपु-प्रकारी;
 असिल भयों को जीत पुगे तिनपना धारी !

१—इह कोइल पालन्दर अतिद्वों के जिह्व है ।

(११)

नवनस्म मानाद्वय—सनातिवृत्त

[धनाद्वय को धारि]

(१)

सामाजिक ज्ञान का नमस्कार काल पुरा हुआ,

नृप वृत्त जो भी हुई आलोचना कहें न;

मन, वचन न बुरे मार्ग ने प्रवृत्त हुए,

अन्तर्य बुद्धि को विनम्रता से उल्लेख !

स्मृतिभूत तथा व्यवस्थिति-हीनता के दोष,

पञ्चानन कर पाद-काजिना से उल्लेख;

अखिल दुरित मम शीघ्र ही विफल होवे;
अतल असोम भवसागर से तर्ह में !

(९)

सामायिक भली भाँति उतारी न अन्तर म,
स्पर्शन, पालन, यथाविधि पूर्ण को नहा;

वीतराग-वचनों के अनुसार कीर्तना की,
शुद्धि की, आराधना की दिव्य ज्योति ली नहीं !

ससार की ज्वालाओं से पिपासित हृदय ने,
शान्तिमूल समभावना की सुधा पी नहीं;

आलोचना, अनुत्ताप करता हूँ बार-बार,
साधना में क्यों न सावधान वृत्ति दी रही ॥

: ४ :

सामायिक पाठ

[आचार्य अमित गति]

तत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं
विलप्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
नाध्यस्त्य-भावं विपरीतवृत्तौ
तदा ममात्मा विदधातु देव ! ॥१॥

हे जिनेन्द्र देव ! मैं यह चाहता हूँ कि यह मेरी आत्मा सदैव प्राणिमात्र के प्रति मित्रता का भाव, गुरा जनों के प्रति प्रमोद का भाव, दुःखित जीवों के प्रति करुणा का भाव, और धर्म से विपरीत आचरण करने वाले अधर्मी तथा विरोधी जीवों के प्रति राग-द्वेषरहित उदासीनता का भाव धारण करे ।

शरीरतः कतुमनन्त-शक्ति
विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम् ।

जिनेन्द्र ! कोपादिव खङ्गादि
तव प्रसादेन ममास्तु शक्ति. ॥२॥

हे जिनेन्द्र ! आपकी स्वभावसिद्ध कृपा से मेरी आत्मा में ऐसा आध्यात्मिक बल प्रकट हो कि मैं अपनी आत्मा को कामंड्य शरीर आदि से उसी प्रकार अलग कर सकूँ, जिस प्रकार म्यान से तलवार

एकेन्द्रिय आदि प्राप्ति नष्ट हुए हों, दुकड़े किये गए हों, निंदयता-
पूर्णक मिला दिए गए हों, किं बहुना, किसी भी प्रकार से दुःखित किए
हों, तो यह सब दुष्ट आचरण निषिद्ध हो।

विमुक्तिनार्ग-प्रतिकूल-वर्तिना

नया कपायाक्षवशेन दुषिया ।

चारित्र-शुद्धेपेदकारि लोपनं,

तदस्तु निष्या मन दुष्कृतं प्रभो ! ॥६॥

हे प्रभो ! मैं दुर्बुद्धि हूँ, मोक्षनार्ग से प्रतिकूल चलने वाला हूँ,
अतएव चार कपाय और पाँच इन्द्रियों के परा में होकर मैं ने जो कुछ
भी अपने चारित्र की शुद्धि का लोप किया हो, वह सब मेरा दुष्कृत
निष्या हो।

विनिन्दनालोचन-महर्षिरहं

मनोविषयाय—स्वापनिर्निमित्तम् ।

निहन्मि पापं भवदुःखकारणं

मिषन् विष मन्त्रगुणंस्त्रिवाखिलम् ॥७॥

मन, वचन, शरीर एवं कर्माणों के द्वारा जो कुछ भी संसार के
दुःख का कारणभूत पापाचरण किया गया हो, उन सब को निन्दा,
आलोचना और गद्दा के द्वारा उन्मा प्रकार नष्ट करता हूँ, जिस प्रकार
कुशल धैर्य मंत्र के द्वारा अंग-अंग में स्थित समस्त विष को दूर कर
देता है।

अतिथम य विमनेज्जतिथम

जिततिवारै सुचारित्रकमेव ।

व्यथाननानागमनि प्रमादव ।

प्रतिथम उन्म वगोनि शुद्धये ॥८॥

हे त्रिनेत्र ! मैंने विकासद्वि से प्रेरित होकर अपने
सुख चरित्र में जो भी प्रमाद वश अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिशय और
अनाचार कर दोष लगाए हों, उन सब की क्षुद्रि के लिए प्रतिक्रम
करता हूँ ।

शानि मनः शुद्धिविधेरनिक्रम

अनिक्रम शीलवृत्तिविलङ्घनम् ।

प्रभोऽतिचार विषयेषु वर्जन

वदन्त्यनाचारमिदानीपराभाम् ॥२॥

हे भगवाँ ! मन को शुद्धि में अति होना अति क्रम है, शील वृत्ति
का अर्थात् स्वीकृत प्रवृत्ति के उल्लंघन का नाश व्यतिक्रम है, विषयों में
प्रवृत्ति करना अतिचार है, और विषयों में अतीव आसक्त होना—
निरास हो जाना अनाचार है ।

यदेवमात्रादवाप्त्य—हीने

मया प्रमादाद्याद किंचनोक्तम् ।

न्मि तस्मिन् विदधातु देवी

तस्मिन् विदधातु देवी—वाप—दक्षिणम् ॥३॥

वद्वि मैंने प्रमादवश होकर अर्ध, 'मात्रा, यद् और वाप से हीने
का अर्थिक कोई भी वचन कहा है या उसक लिए अन्यायी मुझे
कहा कर और केवल ज्ञान का प्रसर प्रकाश प्रदान करे ।

शानि ममात्रा तस्मिन्मात्रा

ममात्रा तस्मिन्मात्रा तस्मिन्मात्रा

तस्मिन्मात्रा तस्मिन्मात्रा तस्मिन्मात्रा

तस्मिन्मात्रा तस्मिन्मात्रा तस्मिन्मात्रा

तस्मिन्मात्रा तस्मिन्मात्रा तस्मिन्मात्रा

के प्रदान करने में चिन्तानधि रत्न के समान है। तेरी कृपा से मुझे
रत्नत्रय रूप बोधि, आत्मज्ञानरूप समधि, परित्यागों की पवित्रता,
आत्मस्वरूप का लाभ और मोक्ष का मुक्त प्राप्त हो।

यः स्मर्यते सर्वमुनीन्द्र—वृन्द—

यः स्तुयते सर्वनरामरेन्द्रः।

यो गीयते वेद—पुराण—शास्त्रैः

त देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१२॥

जिस परमात्मा को संसार के सब मुनीन्द्र स्मरण करते हैं, जिसकी
नरेन्द्र और चुरेन्द्र तक भी स्तुति करते हैं, और जिसकी महिमा
संसार के समस्त वेद, पुराण एवं शास्त्र गाते हैं, वह देवों का भी
आराध्य देव वांतराग भगवान् मेरे हृदय में विराजमान होवे।

यो दर्शन—ज्ञान—मुख—स्वभावः

समस्तसत्तार—विकार—बाह्यः।

सनाधिगम्यः परमात्म—सत्तः

त देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१३॥

जो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त मुख का स्वभाव
धारण करता है, जो संसार के समस्त विकारों से रहित है, जो निर्वि-
कल्प सनाधि (ध्यान की निश्चलता) के द्वारा ही अनुभव में आता
है, वह परमात्मा देवाधिदेव मेरे हृदय में विराजमान होवे।

निपदते यो भवदुःख—जाल

निरोक्षते यो जगदन्तरालम्।

योऽन्तर्गतो योगिनिरोक्षणीय

त देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१४॥

जो संसार के समस्त दुःख-जाल को विध्वस्त करता है, जो त्रिभु-

वनवर्ती सब ...
 द्वारा निरीक्षण ...
 होवे ।

स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१५॥

जो मोक्ष मार्ग का प्रति पादन करने वाला है, जो अभ्यस्य रूप
 आपत्तियों से पूर है, जो तीन लोक का दृष्टा है, जो शरीर-रहित है
 और निष्कलंक है, वह देवाधिदेव मेरे हृदय में विराजमान होवे ।

क्रोडीकृताशेष-शरीरि-वर्गा

रागादयो यस्य न सन्ति दोषाः ।

निरिन्द्रियो ज्ञानमयोज्जपायः

स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१६॥

समस्त संसारी जीवों को अपने नियंत्रण में रखने वाले रागादि,
 दोष जिसमें नाम मात्र को भी नहीं है, जो इन्द्रिय तथा मन से रहित
 है, अथवा असीन्द्रिय है, जो ज्ञानमय है और अविनाशी है, वह देवा-
 धिदेव मेरे हृदय में विराजमान होवे ।

यो ध्यापको विश्वजनीनवृत्ति

सिद्धो विबुद्धो धृत-कर्मबन्ध ।

ध्यातो धूर्नते मकल विकार

स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१७॥

जो विश्वज्ञान की रहि में अखिल विषय में ध्यात है, जो विश्व-
 भाषना में मोह-प्रोह है, जो सिद्ध है, बुद्ध है, कर्म-बन्धनों

में रहित है, जिसका ध्यान करने पर समस्त विकार दूर हो जाते हैं, वह देवाधिदेव भेद हृदय में विराजमान होवे ।

न स्पृश्यते न स्पृज्यते न शोच्यते—

यो ध्यातुः सौख्यं विमलात्मनः ।

निरञ्जनं निरञ्जनैरुमेकं

त देवनाप्त शरणं प्रपद्ये ॥१८॥

जो कर्म कलंक स्पर्श दोषों के स्पर्श से उसी प्रकार रहित है, जिस प्रकार प्रथम मूर्ध्नि-अन्धकार समूह के स्पर्श से रहित होता है, जो निरञ्जन है, निरञ्ज है, तथा जो गुणों की दृष्टि से अनेक है और द्रव्य की दृष्टि से एक है, उस परमसत्त्वरूप आप्त देव की शरण में स्वीकार करता है ।

विभक्तं यम नरीणिनालि—

त्वापिदमनाने भुवनविभक्ति ।

त्वात्मस्थित बोधमयप्रकाश

त देवनाप्त शरणं प्रपद्ये ॥१९॥

लौकिक सूर्य के न रहते हुए भी जिसमें वान लोक को प्रकाशित करने वाला केवल ज्ञान सूर्य प्रकाशमान हो रहा है, जो निरवयु नय की प्रवेष्टा से अनेक आत्मस्वरूप में ही स्थित है, उस आप्त देव की शरण में स्वीकार करता है ।

विलोक्यमानं तांति यम विरय

विलोक्यते स्पष्टमिदं विविक्तम् ।

मुहुः शिव शान्तमनाद्यनन्त

त देवनाप्त शरणं प्रपद्ये ॥२०॥

जिसके ज्ञान में देखने पर सम्पूर्ण विरय अलग-अलग रूप में —

स्पष्टतया प्रतिभासित होता है, और जो शुद्ध है, शिव है, शान्त है, अनादि है और अनन्त है, उस आप्त देव की शरण में स्वीकार करवा है ।

येन क्षता मन्मथ-मान-मूर्च्छा
विषाद-निद्रा-भय-शोक-चिन्ता ।

क्षम्योऽनलेनेव तरु-प्रपञ्च—

स्त देवमाप्त शरण प्रपद्ये ॥२१॥

जिस प्रकार दावानल वृक्षों के समूह को भस्म कर डालता है, उन्ही प्रकार जिसने काम, मान, मूर्च्छा, विषाद, निद्रा, भय, शोक और चिन्ता को नष्ट कर डाला है, उस आप्त देव की शरण में स्वीकार करवा है ।

न मन्तरोऽप्रमा न नृण न मेदिनी
विधानानो नो फलको विनिर्मितः ।

यनो निरस्नाधकपाय-विद्विष

मुधीभिर्गल्मेव मुनिर्मनो मतः ॥२२॥

सामायिक के लिए विधान के रूप में न तो पाष्यर की शिक्षा को धारण माना है, और न नृण, पृथ्वी, काष्ठ आदि को । निरस्य रश्मि के विद्वानों ने इस निर्मल आत्मा को ही सामायिक का धारण=धारण माना है, जिसने अपने इन्द्रिय और कर्मायुक्ती शत्रुओं को पराजित कर दिया है ।

न सस्तनो भद्र । ममाधिमाधन
न लोकपूजा न च मघमेत्यनम् ।

यतस्तनोऽध्यात्मगतो भवानित

विमुच्य सर्वामपि बाह्यवासनाम् ॥२३॥

हे भद्र ! यदि वस्तुतः देखा जाय तो समाधि का साधन न आत्मन है, न लोक-पूजा है, और न संघ का मेल-जोल ही है । अतएव तू तो संसार की समस्त घातनाशों का परित्याग कर निरन्तर ध्यानभाव में खीन रह ।

न सन्ति बाह्याः मन केचनार्था

भवानि तेषां न कदाचनाहम् ।

इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं

त्वत्पः नदा त्वं भव भद्र ! मुक्त्यै ॥२४॥

‘संसार में जो भी बाह्य भौतिक पदार्थ हैं वे मेरे नहीं हैं, और न मैं ही कभी उनका हो सकता हूँ’— इन प्रकार हृदय में निश्चय ठान कर हे भद्र ! तू बाह्य वस्तुओं का त्याग कर दे और मोक्ष की प्राप्ति के लिए सदा आत्मभाव में स्थिर रह ।

आत्मानमात्मन्यवलोक्यमानः —

त्वं दर्शन-ज्ञानमयो विगुह्यः ।

एकाग्रचित्तः क्षणं यत्र तत्र

स्थितोऽपि साधुर्लभते समाधिम् ॥२५॥ —

जब तू अपने को अपने आप में देखता है, तब तू दर्शन और ज्ञान रूप हो जाता है, पूर्ववत्ता छुट हो जाता है । जो साधक अपने चित्त को एकाग्र बना लेता है, वह जहाँ कहीं भी रहे समाधि-भाव को प्राप्त कर लेता है ।

एकं नदा साधनविशेषमनात्मा

विनिर्मलं साधनमन्यभावः ।

बहिर्नया मन्त्रपरे मनन्या

न साधयता समनया न्यवीया ॥२६॥

युक्त अपनी आत्मा को पूर्णतया जब से निम्न रूप में देख और परमात्म-
तात्त्व में खोने बन ।

स्वयंकृतं कर्म यदात्मना पुरा

फलं तदीयं लभते शुभाशुभम् ।

परेण दत्तं यदि-लभ्यते स्फुटं

स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥३०॥

आत्मा ने पहले जो कुछ भी शुभाशुभ कर्म किया है, उसी का
शुभाशुभ फल वह प्राप्त करता है । यदि कभी दूसरे का दिया हुआ
फल प्राप्त होने लगे तो फिर निश्चय हो अपना किया हुआ कर्म निर-
र्थक हो जाए ।

निजाजितं कर्म विहाय देहिना

न कोऽपि कस्यापि ददाति किंचन ।

विचारयन्नेवमनस्य—मानसः

परो ददातीति विनुष्य शत्रुषीम् ॥३१॥

संतारी जाँव अपने ही हूँ कर्मों का फल पाते हैं, इसके अति-
रिक्त दूसरा कोई किसी को कुछ भी नहीं देता । हे भद्र ! तुम्हें यही
विचारना चाहिए 'और दूसरा देता है'—यह बुद्धि त्याग कर अतन्त्र-
अप्राप्त अचंचल हो जाना चाहिए ।

यं परमात्मानमनितगतियन्ध

सर्व-विविक्तो भूतान्नवद्य ।

शब्दबधीतो ननन्ति लभन्ते

मुक्तिनिकेन विभवपर ते ॥३२॥

जो भग्न प्राणी अपार शब्द के धर्मा अनित्यगति मरुधरों से बन्ध-
नोप, सब प्रकार की कर्मोपाधि से रहित, और अजीव प्रसन्न परमा-

स्वरूप का अपने मन में निरन्तर ध्यान करते हैं, 'वे मोक्ष की' सर्वश्रेष्ठ सखी को प्राप्त करते हैं ।

विशेष

यह सामायिक पाठ आचार्य अमित गति का रखा हुआ है । आध्यात्मिक भावनाओं का कितना सुन्दर चित्रण किया गया है, यह हरेक सद्बुद्ध पाठक भली भाँति जान सकता है ।

आज कल दिगम्बर जैन परम्परा में इसी पाठ के द्वारा सामायिक की जाती है । दिगम्बर परंपरा में सामायिक के लिए कोई विशेष विधान नहीं है । केवल इतना ही कहा जाता है कि—एकान्त स्थान में पूर्व या उत्तर को मुख करके दोनों हाथों को सटाकर कर त्रिनमुद्रा से बंधे हो जाना चाहिए । और मन में यह नियम लेना चाहिए कि जबतक ४८ मिनट सामायिक की क्रिया करूँगा, तब तक मुझे अन्य स्थान पर जाने का और परिग्रह का त्याग है ।

तदनन्तर नी बार या तीन बार दोनों हाथ जोड़ कर तीन आंगुली और एक शिरोनति करे । आंगुली का अर्थ—बाईं ओर से दाहिनी ओर हाथों को घुमाना है । इस प्रकार तीन आंगुली और एक शिरोनति की क्रिया को प्रत्येक दिशा में तीन-तीन बार करना चाहिए । पुनः पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुख करके समासन से बैठ कर पहले प्रभुन सामायिक पाठ का पाठ करना चाहिए और बाद में माता आदि से वंदना करना चाहिए ।

प्रवचनादि में प्रयुक्त ग्रन्थों की सूची

१. अष्टाध्यायी व्याकरण—पाणिनि
२. अष्टक प्रकरण—आचार्य हरिभद्र
३. अथर्ववेद
४. अनाकोपटीका—भानुजी दोष्टि
५. अनित्यगति भावकाचार
६. अन्तर्दृष्टाञ्च सूत्र
७. आचाराञ्च सूत्र
८. आत्म-प्रबोध—जिनबानसूत्रि
९. आवरणक नियुक्ति—आचार्य श्रीमदबाहु
१०. आवरणक बृहद्बृत्ति—हरिभद्र
११. उत्तराध्यायन सूत्र
१२. उपासक दशाञ्च सूत्र
१३. औपपातिक सूत्र
१४. कल्पसूत्र
१५. तत्त्वार्थ सूत्र—आचार्य उनात्वात्रि
१६. तत्त्वार्थ राजवातिक—भट्टकृष्ण
१७. तत्त्वार्थसूत्र टीका—वाचक चणोविजय
१८. तीन गुणवत्—रज्य जवाहिराचार्य
१९. दशवैकालिक सूत्र

२०. दशवैकाग्रिक टीका—आचार्य हरिभद्र
 २१. द्वारिण्यद्द्वारिणिका—यशोविजय
 २२. धर्मसंग्रह—मानविजय
 २३. निरुक्त
 २४. निशीथ सूत्र
 २५. निशीथ सूत्र चूर्ति
 २६. नैषधचरित—भीरुपे
 २७. पञ्चाशक—आचार्य हरिभद्र
 २८. प्रतिक्रमणसूत्र वृत्ति—आचार्य नमि
 २९. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति—आचार्य अक्षसेक
 ३०. प्रापरिचल-समुच्चयवृत्ति
 ३१. प्रश्न व्याकरणसूत्र
 ३२. भगवती सूत्र
 ३३. भगवती सूत्र वृत्ति—अभयदेव
 ३४. भगवद् गीता
 ३५. यत्तुर्वेद
 ३६. योग शास्त्र—आचार्य द्वेयचन्द्र
 ३७. योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्ति
 ३८. रत्नकरचक्र भावकासार—आचार्य समन्वभद्र
 ३९. राजप्रशनीयसूत्र टीका—मञ्जवगिरि
 ४०. व्यवहार भाष्य—सर्वदासगन्धी
 ४१. व्यवहारभाष्य टीका—आचार्य मञ्जवगिरि
 ४२. विशेषावरणक भाष्य—जिनभद्रगन्धी 'कामाधमर्ष'
 ४३. वैदिक सङ्ख्या—दामोदर साठवडेकर
 ४४. शतपथ ब्राह्मण
 ४५. शास्त्रपाठा समुच्चय—हरिभद्र
 ४६. शोडशक प्रश्नक—आचार्य हरिभद्र

४०. स्थानाङ्ग सूत्र
४८. स्थानाङ्ग सूत्रटीका—अभयदेव
४९. तान्नायिक पाठ—आचार्य अनितगति
५०. तान्नायिक सूत्र—सं० मोहनलाल देसाई
५१. सूत्रकृताङ्ग सूत्र
५२. सूत्रकृताङ्ग सूत्र टीका—आचार्य शीलाङ्क
५३. सर्वार्थसिद्धि—रूज्यपाद
५४. सर्वार्थसिद्धि—कनकशील
५५. शाखासूत्र मूल

